प्रथम सस्करण १९४९
द्वितीय सस्करण १९५३
तृतीय सस्करण १९५९
चतुथ सस्करण १९६१
पचम सस्करण १९६४

प्रकाशक
नेशनल पब्लिशिग हाउस,
चन्द्रलोक, जवाहरनगर, दिल्ली-७

विक्री केन्द्र
नई सडक, दिल्ली-६

मूल्य
पाच रुपये पचास पैसे

दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स आगरा

भूमिका

प्रस्तुत ग्रन्थ मेरे गवेषणात्मक निबन्ध का पूर्वार्द्ध है। इसमे हिन्दी रीति-काव्य की भूमिका मात्र उपस्थित की गई है। ग्रन्थ म तीन अध्याय हैं —पहले मे रीति-युग की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियो का ऐतिहासिक विवेचन करते हुए एक प्रकार से अभीष्ट चित्र के लिए आधार-फलक तैयार किया गया है। यहा मैंने घटनाओ का प्राय बचाते हुए तत्कालीन जीवन की आतरिक प्रवृत्तियो को ही ग्रहण किया है क्योकि काव्य का सीधा सम्बन्ध उन्ही से है। जीवन की इन भौतिक, बौद्धिक आध्यात्मिक एव रागात्मक अन्त प्रवत्तियों मे परस्पर क्या सम्बन्ध था, इसका निर्देश यथास्थान कर दिया गया है। दूसरे अध्याय मे रीति-काव्य के शास्त्रीय आधार का साधारणत एतिहासिक और विशेषत सद्धान्तिक विवेचन है। इस प्रसग मे भारतीय काव्य शास्त्र के मूल सिद्धान्तो और उन पर आश्रित सम्प्रदायो का नवीन साहित्य शास्त्र तथा आधुनिक मनोविज्ञान व मनोविश्लेषण शास्त्र के प्रकाश मे विश्लेषण एव स्पष्टीकरण किया गया है। आज काव्य शास्त्र के विद्यार्थी के लिए अध्ययन का यह सबसे महत्त्वपूर्ण विषय है और मैं विस्तारपूर्वक इस पर लिखना भी चाहता था। परन्तु प्रस्तुत निबन्ध के अन्तगत इसके लिए अवकाश नही है। अतएव मैंने मूल सिद्धान्तो को ही ग्रहण किया है, उनके विस्तार प्रस्तार और अग उपागो को छोड दिया है। मनोविज्ञान और नवीन काव्य सिद्धान्तो के प्रकाश मे भारतीय काव्य शास्त्र का अध्ययन हिन्दी मे अभी अत्यन्त विरल है—उपयुक्त अध्ययन मे मैंने इसी महत्त्वपूर्ण प्रसग की रूपरेखा बाँधने का विनम्र प्रयत्न किया है। तीसरे अध्याय मे रीतिकाल की सामान्य प्रवृत्तिया का विश्लेषण है। यहा भी मैंने अपने विवेचन को प्रवृत्तिया तक ही सीमित रखा है। व्यक्तियो को यद्यपि स्वतन्त्र महत्त्व नही दिया गया, परन्तु निष्कर्षों मे अधिकाशत सभी प्रतिनिधि रीति-कवियो के मुद्रित और हस्तलिखित (प्राप्य) ग्रन्थो का आश्रय लिया गया है।

हिन्दी म रीति-काव्य प्राय उपेक्षा का ही भागी रहा है। द्विवेदी युग के आलोचको ने इस कविता को नीतिभ्रष्ट कहकर तिरस्कृत किया, छायावाद के प्रतिनिधि कवि लेखक इसको अति ऐन्द्रिय और स्थूल कहकर हेय समझते रहे और आज का प्रगतिशील समीक्षक इसको सामन्तवाद की अभिव्यक्ति मानकर

प्रतिक्रियावादी कविता कहता है। मैंने शुद्ध साहित्यिक (रस) दृष्टि से ही इस कविता की सामान्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण और मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया है—अन्य बाह्य मूल्यों को प्रयत्नपूर्वक बचाया है। और, इस दृष्टि से आप देखेंगे कि यह काव्य न हेय है और न उपेक्षणीय। इस रसात्मक काव्य का अपना विशेष महत्त्व है।

आकाशवाणी, १९४९

नगेन्द्र

विषय-क्रम

१ | रीति-काव्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

राजनीतिक स्थिति

आज प० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा किया हुआ हिन्दी-साहित्य का काल विभाजन प्राय सवमान्य-सा ही हो गया है।—और वास्तव म सवथा निर्दोष न होते हुए भी, वह बहुत-कुछ सगत तथा विवेकपूण है। उसके अनुसार रीतिकाल के अन्तगत स० १७०० से स० १६०० तक पूरी दो शताब्दियाँ आ जाती हैं।

सम्वत १७०० से १६०० तक भारत का राजनीतिक इतिहास चरम उत्कष को प्राप्त मुगल-साम्राज्य की अवनति के आरम्भ और फिर क्रमश उसके पूण विनाश का इतिहास है। सम्वत १७०० मे भारत के सिंहासन पर सम्राट शाहजहाँ आसीन था। मुगल वैभव अपने चरम उत्कष पर पहुँच चुका था—जहाँगीर ने जो साम्राज्य छोडा था, शाहजहा ने उसकी और भी श्री-वृद्धि एव विकास कर लिया था। दक्षिण म अहमदनगर गोलकुण्डा और बीजापुर राज्यो ने मुगलो का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था, और उत्तर पश्चिम म स० १६६५ म कधार का किला मुगलो के हाथ आ गया था। अब्दुल हमीद लाहौरी के अनुसार उसका साम्राज्य सिंध के लहिरी बन्दरगाह से लेकर आसाम मे सिलहट तक और अफगान प्रदेश क बिस्त के किले से लेकर दक्षिण म औसा तक फैला हुआ था। उसम २२ सूबे थे, जिनकी आमदनी ८८० करोड दाम अथवा २२ करोड रुपया थी। देश म अखण्ड शान्ति थी, खजाना माला-माल था। हिन्दुस्तान की कला अपने चरम वभव पर थी। मयूर सिंहासन और ताजमहल का निर्माण हो चुका था। परन्तु उत्कष के चरम बिन्दु पर पहुँचने के उपरान्त यही से अपकष का भी आरम्भ हो गया था। अप्रतिहत मुगल वाहिनी पश्चिमोत्तर प्रान्तो मे लगातार तीन बार पराजित हुई—मध्य एशिया के आक्रमण बुरी तरह विफल हुए। इन विफलताओ से न केवल धन-जन की हानि हुई वरन मुगल साम्राज्य की प्रतिष्ठा को भी भारी धक्का लगा। उधर दक्षिण म भी उपद्रव आरम्भ हो गये थे। बाहर से यद्यपि हिन्दुस्तान सम्पन्न और शक्तिशाली दिखाई देता था परन्तु उसके अन्तस्तल

मे अज्ञात रूप से क्षय के बीज जड पकड रहे थे। जहाँगीर की मस्ती औ शाहजहाँ के अपव्यय दोनो का परिणाम अहितकर हुआ। जिस प्रकार साहि के इतिहास म भक्ति-काव्य के चरम वैभव के बाद स० १७०० के आस-प ही कविता क्षय ग्रस्त होने लगी थी, ठीक उसी प्रकार राजनीतिक इतिहास मुगल साम्राज्य भी अपने सम्पूर्ण यौवन को प्राप्त करने के उपरान्त ह्रासोन्मु हो चला था।

स० १७१५ म शाहजहाँ बहुत सख्त बीमार पड गया—देश मे र अफवाह उड गई कि सम्राट की मृत्यु हो गई। मुगलो म चूँकि उत्तराधिक का कोई निश्चित नियम नही था अतएव दुर्भाग्यवश बादशाह के जीवन-का म ही उसके पुत्रो मे सिंहासन के लिए युद्ध आरम्भ हो गया। यह युद्ध री काल के आरम्भ की सबसे प्रथम और सबसे अधिक महत्वपूर्ण राजनीति घटना है—इसका राजनीतिक और नैतिक प्रभाव समस्त देश पर पड सम्राट का सबसे बडा पुत्र दारा अपने सास्कृतिक व्यक्तित्व के कारण केवल सम्राट का ही वरन प्रजा का भी स्नेह भाजन था—परन्तु वह कूटनी से अनभिज्ञ था। इसके विपरीत दूसरे राजकुमार औरगजेब का व्यक्ति कठोर और दृढ था। उसकी हार्दिक शक्तियाँ जितनी सीमित थी, बौद्धि शक्तियाँ उतनी ही विकसित थी। मानव चरित्र के अध्ययन मे उसकी ग अपरिमित थी—उसकी दृष्टि अन्त प्रवेशिनी और निर्णय शक्ति स्थिर स थी। कूटनीति म वह दक्ष था। दारा के विपरीत वह कट्टर सुन्नी था—उस धार्मिक सहिष्णुता का सर्वथा अभाव था। दारा और औरगजेब का युद्ध मा संस्कृति और राजनीति का युद्ध था। कई जगह कई महीनो तक मोर्चा लग सारा साम्राज्य ईश्वर के सदृश प्रतापी मुगल सम्राट के पुत्रो मे होने व इस भयकर युद्ध का विस्फारित नेत्रो से देख रहा था। हिन्दू और उदारा मुसलमान दारा की ओर थे—कट्टर सुन्नी औरगजेब की तलवार पर इस्ल की विजय की आशा केन्द्रित किये हुए थे। भाग्य के अनुरोध से दारा पूर्ण पराजय हुई—देश ने इस लोकप्रिय राजकुमार के वध का लोमहर नाटक अपनी आँखो से देखा। उन्होने देखा मानो नैतिक और धार्मिक विश्वा को पैरो-तले कुचलता हुआ औरगजेब भाइयो के खून की नदी पार सिंहासन तक पहुँच गया है और गर्व से उस पर आसीन है। औरगजेब राज्य काल स० १७१५ से स० १७६४ तक एक सम्पूर्ण अर्द्ध शताब्दी आच्छादित किये हुए है। उसका वृहत राज्य-काल अशान्ति और सघर्ष इतिहास है। इसका पूर्वार्ध तो प्राय जमीदारो राजाओ तथा हिन्दुओ

धार्मिक उपद्रवा एव विद्रोहो का दमन करन मे बीता। सबसे विकट उपद्रव आगरा, अवध और इलाहाबाद के सूबा मे हुए। आगरा प्रान्त मे गोकुल के नेतृत्व मे जाटा ने, अवध म बैस राजपूतो ने, और इलाहाबाद मे हरदी तथा अय जमीदारो ने शासन की अयायपूण नीति के विरुद्ध विद्रोह किया। औरगजेब ने यथासमय सभी को शात किया और इन उपद्रवी हिदुआ से प्रतिशोध के लिए मथुरा म केशवदास का मदिर और काशी म विश्वनाथ का मदिर विध्वस्त करा दिया, जिससे उसकी हिदू विरोधी नीति और भी स्पष्ट हा गई। उधर बुदेलखण्ड मे चम्पतराय विद्राही हा गए और उनकी मृत्यु के उपरान्त उनके पुत्र महाराज छत्रसाल आजीवन मुगलो का विरोध करते रहे।

कविवर लाल न अपन ग्रथ 'छत्र प्रकाश' म उनकी वीरता और बलिदान का ओजस्वी वणन किया है

मारि तुरक को मुह मुरकायो। रन मे विज बुदेला पायो॥
मुरके तुरक खग्ग फिर खोल्यो। बल दिवान पर हल्ला बोल्यो॥
बजे नगारे फेर जुझाऊ। रन मे रुप्यौ उमडि बलदाऊ॥
पहर राति भर मार मचाई। मुरक्यो तुरक उहाँ खम खाई॥
ओडि अरिन के ढाल ढकेला। भलौ लर्‌यौ बलकरन बुदेला॥
खर्भरि खेत तहवर बिचलायो। सूबन के उर साल सलायो॥
सले साल सूबानि क, धक्कनि हल पठान।
दियौ भाल छत्रसाल क, राजतिलक भगवान॥

राजपूताना म मारवाड के उत्तराधिकार के प्रश्न का लेकर अशाति फैली हुई थी। अब तक राजपूताना के प्रमुग राज्य मुगला की निष्कपट रूप से सेवा करते रहे थे—जोधपुर के राजा जसवर्तासह और जयपुर के मिर्जा जयशाह न साम्राज्य की ओर से युद्ध करत हुए ही अपने प्राण गँवाए थे। राजा जसवन्तसिह की मृत्यु के उपरात औरगजेब न जयपुर पर अधिकार कर लिया जिसके कारण मारवाड और मेवाड मुगलो के विरुद्ध हो गए—उधर उहोन शाहजादा अक्बर को भी अपनी ओर तोडकर औरगजेब को विपम परिस्थिति मे डाल दिया। अत म हार तो राजपूता की ही हुई, फिर भी दुर्गादास अत तक मुगला का सामना करता रहा। इधर आत्म रक्षा के निमित्त हिदू धम के विभिन्न समुदायो मे भी चेतना जागृत हो रही थी। नारनौल और मेवाड के प्रान्तो मे सतनामी मत के लागा ने भयकर धार्मिक विश्वास का परिचय दिया। उनके अदभुत साहस को देखकर तो मुगल सैनिक उनमे अतिप्राकृतिक शक्तियो का सदेह करन लगे और स्वय औरगजेब को—

जो मुसलमानो का 'जिंदा पीर' समझा जाता था—अपने हाथो से दुआएँ लिख लिखकर शाही झंडा में टाँकनी पडी। पजाब मे सिक्खो का और असतोष बढ रहा था। गुरु तेगबहादुर की हत्या और गुरु गोविन्दसिंह के बच्चो पर किये गए पाशविक अत्याचार ने उनको तिलमिला दिया था और सिक्ख धर्म के नीचे एक साम्यवादी सैनिक जाति का निर्माण और विकास हो रहा था परन्तु स्वतन्त्र शक्ति अभी इनमे भी नही आई थी। स्वय गुरु गोविन्दसिंह ने ही मुगल का मनसब स्वीकार कर लिया था। दक्षिण की दशा और भी खराब थी। औरगजेब की धार्मिक असहिष्णुता ने दक्षिण के रियासतो राज्यो की शक्ति सर्वथा क्षीण कर दी थी। वह स्वय इतनी दुरवस्था ठीक करने मे असमर्थ था अतएव शिवाजी की अध्यक्षता मे मराठे शक्ति सगठित कर रहे थे। कुछ दिन तो वे केवल उपद्रव ही करते रहे, परन्तु फिर शिवाजी ने व्यवस्थित राज्य स्थापित कर लिया। गुरु रामदास आदि के प्रभाव से दक्षिण के हिन्दुओ मे राष्ट्रीय पुनर्जागृति के लक्षण दृष्टिगत हो रहे थे। भूषण ने शिवाजी की राष्ट्रीय भावना का जो वर्णन किया है वह अत्युक्तिपूर्ण होते हुए भी वस्तु स्थिति से बहुत दूर नही है। शताब्दियो से मुगल सेना अपराजेय समझी जाती रही थी, परन्तु शिवाजी ने यह स्वप्न भग कर दिया। मराठो का यह प्रदेश हिन्दी भाषी प्रान्तो से दूर था। अतएव इस पुनर्जागृति का प्रभाव वहा तक सीमित रहा—उत्तर के प्रात उससे अस्पृष्ट रहे। वहाँ की हिन्दू जनता अभी उसी प्रकार आत्मचेतना शून्य थी। राज्य-काल के उत्तरार्ध मे सम्राट् का ध्यान दक्षिण पर केन्द्रित रहने के कारण उत्तरापथ मे अशान्ति और अव्यवस्था और भी बढ गई। इस प्रकार औरगजेब के शासन-काल मे देश की राजनीतिक स्थिति डाँवाडोल थी विशाल मुगल साम्राज्य की चूलें ढीली पड गई थी और वह अपनी विशालता को सँभालने मे असमर्थ हो गया था। शाहजहाँ और औरगजेब पूर्णत अहवादी सम्राट थे—उनको अपने निर्णय अथवा न्याय विचार मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप सह्य नही था। इसलिए सम्राट् का अपना व्यक्तित्व साम्राज्य के लिए असीम महत्त्व रखता था। ये लोग अपने मत्री आप थे। इस भयकर व्यक्तिवादी राजतत्र का परिणाम यह हुआ कि मुगल शासन न तो भारतीयो को एक राष्ट्र मे परिणत कर पाया और न सशक्त स्थायी राज्य ही प्रतिष्ठित कर पाया। जनता को किसी प्रकार की आर्थिक स्वाधीनता नही थी, उसे अपने न्याय विचार या वैयक्तिक स्वातत्र्य का कोई अधिकार नही था, राजनीतिक अधिकार तो उस समय अकल्पनीय थे। शासन पूर्णत व्यक्ति की इच्छा पर था—जिसके लिए वैधानिक नियमो

का कोई महत्त्व नहीं था, विद्रोह और क्रांति का ही भय था। मुगल सम्राटों की शासन प्रणाली स्पष्ट रूप से सामन्तीय थी। अकबर के समय में राजकीय कर्मचारियों को नकद वेतन मिलता था, परन्तु शाहजहाँ के राजत्व-काल में आकर इन लोगों की संख्या इतनी बढ़ गई कि राज्य का कोष उसको पूरा न कर पाता था। अतएव शाहजहाँ को जागीर की प्रथा चलानी पड़ी। इस प्रकार उसके समय में साम्राज्य की शक्ति अमीरों और जागीरदारों के सैनिक बल पर ही अवलम्बित रहती थी। परन्तु इनमें आपस में विद्वेष था और इनके पारस्परिक कलह और दलबन्दी राज सेवा में प्रायः बाधक होते थे। औरंगजेब के समय में राज्य का खर्च और भी बढ़ गया था—वह हमेशा अपने जागीरदारों और सामन्तों से बड़े बड़े उपहार लेकर उसे पूरा करने की फिराक में रहता था। एक प्रकार से वह ओहदे बेचने लग गया था। मुसलमान के लिए धार्मिक पाखंड, हिन्दू के लिए धर्म परिवर्तन—और उन दोनों के लिए ही बड़ी बड़ी भेंटें—उस समय पद प्राप्ति के साधन थे। इस प्रकार सामन्तीय शासन निर्बल हो गया था, बेचारे जागीरदारों को भेंट के रूप में इतना धन सम्राट को देना पड़ता था कि वे अपना निर्वाह भी नहीं कर पाते थे। स्वभावतः उनके सैनिक बल का ह्रास होने लगा था। वे छोटे छोटे जमींदारों के उत्पातों को भी दमन नहीं कर पाते थे। सं० १७६४ में औरंगजेब की मृत्यु हो गई। अभी तक उसका दृढ़ व्यक्तित्व धुरी के समान समस्त साम्राज्य को सँभाले हुए था। उसकी मृत्यु के बाद एक साथ साम्राज्य की शक्तियाँ छिन्न भिन्न हो गई। औरंगजेब के प्रखर अहंवाद ने उसके सभी पुत्रों के व्यक्तित्व को निर्जीव बना दिया था। परिणाम यह हुआ कि उसका कोई भी उत्तराधिकारी इतने बृहत् राज्य को सँभालने में समर्थ न हो सका और साम्राज्य का ह्रास बड़े वेग से आरम्भ हो गया।

सम्वत् १७६४ के बाद भारतीय इतिहास घोर राजनीतिक पतन और अव्यवस्था का इतिहास है। यह अशान्ति और अव्यवस्था क्रमशः बढ़ती ही गई और अन्त में १९१४ के गदर में जाकर इसका पूर्ण पर्यवसान हुआ। मुगल वंश की राजनीतिक प्रतिभा नष्ट हो चुकी थी। अन्तःपुर में क्षुद्र द्वेष और प्रणय की लीला चल रही थी—राज्य के उत्तराधिकारी उचित शिक्षा और संस्कार के अभाव में विलासी, निर्वीय एवं व्यक्तित्वहीन हो गए थे। मुगलों के जैसे राजत्व विधान के लिए, जहाँ सम्पूर्ण व्यवस्था सम्राट के व्यक्तित्व पर ही आश्रित रहती थी, इस प्रकार का वातावरण पूर्णतया घातक सिद्ध हुआ। केन्द्रीय शासन के दुर्बल हो जाने के कारण भिन्न भिन्न प्रान्तों के अधिपति स्वतन्त्र होने लग गए थे। मुगल-दरबार स्वयं अमीरों और राजकीय अधिकारियों

की उच्चाकाक्षाओ का रंगस्थल बना हुआ था। इन लोगो के पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष का ऐसा ताण्डव नर्तन हो रहा था मानो सम्राट का अस्तित्व ही न रहा हो। फर्रुखसियर के समय मे सैयद भाइयो और तूरानी सरदारो का उदाहरण इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। सयद भाई तो बादशाहो को बनाने बिगाडने की शक्ति रखते थे। आगरा और राजपूताना मे जाट और राजपूतो के विद्रोह हो रहे थे, दिल्ली के उत्तर मे सिखो का प्रभुत्व बढ रहा था—बन्दा बैरागी के उपद्रवो ने बहादुरशाह और फर्रुखसियर दोनो के नाक मे दम कर दिया था। दक्षिण म मराठो की शक्ति अप्रतिरुद्ध बढ रही थी। निबल मुगल शासक प्राय उनकी शर्तों को मानकर उनको चौथ वसूल करने का फर्मान देकर जैसे तैसे अपनी मुसीबत दूर करते थे। इधर यूरोप स आयी हुई व्यापारी कम्पनियाँ हिन्दुस्तान की अव्यवस्था स उत्साहित होकर धीरे धीरे, परन्तु दृढता से, अपने पैर फैला रही थी। अगरेजो और फ्रांसीसियो ने काफी प्रभुत्व जमा लिया था।

इतिहासकारो ने इस काल के इतिहास को तीन भागो मे विभक्त किया है

१ पहले म मराठो का प्रभुत्व बढा। सम्वत १७९५ मे नादिरशाह् का हमला हुआ। हिन्दुस्तान की सेना अपना उत्साह और पराक्रम खो बैठी थी—अनुशासन सवथा शिथिल हो गया था। निदान नादिरशाह के विजयोत्साह के सम्मुख उसकी घोर पराजय हुई। मुहम्मदशाह बन्दी बना और दिल्ली म कत्ल-आम का हुक्म हुआ। सिन्धु नदी के पश्चिम के प्रान्त ईरानियो के अधीन हुए। शासन और भी जजरित हो गया। अवध के सूबेदार सआदतअली खा, बगाल के अलावर्दी खा, और दक्षिण के निजामुलमुल्क आसफजाह स्वतन्त्र हो गए।

२ दूसरे भाग म अवध और दक्षिण के सूबेदारो के गृह-कलह से आन्तरिक शक्ति क्षीण हो गई। अफगान शासक अहमदशाह अब्दाली के हमले शुरू हो गए थे। सम्वत १८१८ म उसने मराठो की सम्मिलित शक्ति को पूरी तरह से पराजित कर दिया। मराठो के वधमान प्रभुत्व को पानीपत की पराजय से विशेष आघात पहुँचा। अगरेजो का अधिकार विस्तृत हो चला। उन्होने बक्सर के युद्ध मे शाह आलम को हराकर अपने आश्रय म ले लिया और बगाल, बिहार, उडीसा की दीवानी के बदले उसे इलाहाबाद और कडा के जिले दे दिए। इधर उन्होने फ्रांसीसी सेना को भी पूरी तरह हराकर उसके बल को निःशेष कर दिया। मराठो का उत्कर्ष एक बार फिर हुआ लेकिन आपस के सघर्षों से वह शीघ्र ही कुण्ठित हो गया।

३ पतन-काल के तीसरे भाग मे मराठो की शक्ति भी निःशेष हो गई और अगरेजो का प्रभुत्व सम्पूर्ण उत्तरी भारत मे दृढ हो गया। मुगल साम्राज्य

अब केवल दिल्ली और आगरा के आस पास तक ही सीमित रह गया था। इस प्रदेश को भी बेचारा शाह आलम अपने नियन्त्रण में नहीं रख पाता था, क्योंकि उसके पास अपना कोई सैन्य-बल नहीं था। इस समय दिल्ली-दरबार की आन्तरिक राजनीति केवल उन षडयन्त्रों का इतिहास है जो दरबार के विभिन्न दलों में वज़ीर पद की प्राप्ति के लिए हो रहे थे। इन षडयन्त्रों में मराठे, जाट, रुहेले और अवध के नवाब मुख्य भाग ले रहे थे। उनकी छोटी छोटी लड़ाइयों से उस समय का इतिहास भरा हुआ है।[1]

शाह आलम के बाद अकबर शाह द्वितीय गद्दी पर बैठा। उसके समय में लखनऊ के नवाबों को बादशाह की उपाधि प्राप्त हुई, अंगरेजों ने उसे बादशाह स्वीकार किया। यह स्थिति भी बहुत दिनों तक न रही। अंगरेजों ने बंगाल के बाद बनारस, इलाहाबाद और अवध पर अधिकार कर लिया—और फिर कुछ समय में ही नामशेष मुगल राज्य का अन्त करके सारे उत्तरी हिन्दुस्तान पर अपना राज्य स्थापित कर लिया। इसी समय के एक पत्र में गवर्नर जनरल एलेनब्रुक ने रेज़ीडेण्ट टामस मेटकाफ को लिखा था— 'बादशाह की ऊपरी शानो शौकत का शृंगार उतर चुका है। उसके वैभव की पहली-सी चमक-दमक नहीं रही, इसलिए कलम के एक डोब में बादशाह की उपाधि का अन्त कर देना कुछ भी कठिन नहीं है।"

इस युग में दूसरे हिन्दू प्रदेशों की भी लगभग यही दशा थी जो दिल्ली राज्य की थी। हिन्दी के रीति-काव्य का सृजन और पोषण जिन प्रान्तों में हुआ वे हैं अवध, बुंदेलखण्ड और राजस्थान। अवध की राजनीतिक परिस्थितियों का उल्लेख मुगल-साम्राज्य के प्रसंग में ऊपर हो ही चुका है। राजस्थान में इस समय मुख्य चार राज-वंश थे—अम्बर के कछवाह, मेवाड़ के सिसौदिया, मारवाड़ के राठौर और कोटा-बूंदी के हाडा। राजस्थान का इतिहास भी इस समय पतन का इतिहास है। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि मुग़ल-साम्राज्य के इस विनाश-काल में भी ये लोग अपनी शक्तियों को संचित और एकत्रित करके हिन्दू प्रभुत्व स्थापित न कर पाए। और, करते भी कैसे ? राजपूतों की अनादि काल से चली आई हुई फूट इस समय तो और भी ज़ोरों पर थी। बहुपत्नीक राजपूत राजाओं के रनिवासों में मुगल हरमों की तरह आन्तरिक कलह और ईर्ष्या का नग्न नृत्य होता था—एक एक राजा की कई विवाहिता रानियाँ और अनेक रखिताएँ होती थीं। अहंकार इन राजपूतों में इतना भयंकर था कि उसके सम्मुख कोई भी आत्म, कोई भी सम्बन्ध नहीं

[1] डॉ० ताराचन्द—'हिन्दुस्तान के निवासियों का संक्षिप्त इतिहास'।

टिक सकता था। पिता पुत्र मे अधिकार के लिए युद्ध होना यहाँ भी मामूली बात थी। अगर दिल्ली का औरगजेब पिता को कैद कर सकता था, तो मारवाड का अमरसिंह अपने पिता की हत्या भी कर सकता था। मेवाड मे चण्डावत और शक्तावत-वशो मे भयकर गृह-कलह था, जिससे मेवाड की सम्पूर्ण शक्ति जजर हो गई थी। राजस्थान मे पूणत सामन्तीय शासन था, जिसम सब-कुछ शासक के व्यक्तित्व पर ही निभर रहता था। राजा का व्यक्तित्व ही शासन चक्र की धुरी था, उसमे शिथिलता आ जाने से सम्पूण व्यवस्था का छिन्न भिन्न हो जाना स्वाभाविक था। व्यक्ति की यह प्रधानता एक ओर राजपूतो मे स्वामि भक्ति, देश प्रेम, जाति और धम के प्रति प्रगाढ़ आस्था जैसे चारित्रिक गुणो का विकास करती थी, दूसरी ओर निरन्तर अशान्ति गृह-कलह और वैयक्तिक अधिकार चेष्टा को भी जन्म देती थी जिसमे सगठन असभव हो जाता था। बाह्य भय के अभाव मे प्राय आन्तरिक वैर-भावना उभर आती थी और वैयक्तिक प्रतिद्वन्द्वो के कारण सम्पूण व्यवस्था अस्त व्यस्त हो जाती थी। जब राजपूत-वैयक्तिकता आन्तरिक सगठन म ही इतनी बाधक थी तो राजस्थान का जातीय सगठन कैसे सम्भव होता। दो एक बार मराठो और मुगलो के विरुद्ध इस प्रकार सगठन के प्रयत्न भी हुए, परन्तु उनका कोई सत्परिणाम असम्भव था क्योकि राजपूतो का वशगत अहकार और उनके शत-शत अकारण विद्वेष किसी प्रकार के भी सगठन को विफल कर देते थे। उधर मुगलो की पराधीनता से उनका नैतिक बल नष्ट हो चुका था, अतएव उनमे स्थिरता और सच्ची देश भक्ति का प्राय अभाव ही था। उनकी ये उत्तेजनाएँ सन्निपात के रोगी की उत्तेजनाएँ ही थी।

इस प्रकार ऊपर के अध्ययन से हम निम्नलिखित परिणामो पर पहुँचते है—

(१) समस्त देश युद्धो और विप्लवो से आक्रात था, जिनके कारण व्यवस्था पूणत छिन्न भिन्न हो गई थी। केन्द्रीय शासन के निबल हो जाने से विभिन्न प्रान्तो मे छोटे-छोटे महत्त्वहीन शासन स्थापित हो चुके थे। मुगल साम्राज्य की विराट् गरिमा के नष्ट हो जाने से देश की राजनीति मे क्षुद्रता आ गई थी।

(२) यह राजनीतिक अध पतन का युग था। शासन-समुदाय म मौलिक प्रतिभा नि शेष हो चुकी थी। स्वय औरगजेब भी सफल राजनीतिज्ञ नही था। अकबर और उसके सचिव भगवानदास टोडरमल आदि की राजनीतिक योग्यता की इस युग मे कल्पना भी नही की जा सकती थी।

(३) इस युग मे उत्तरी भारत ने औरगजेब को छोडकर कोई भी प्रथम श्रेणी का व्यक्तित्व नही उत्पन्न किया। मुगल परिवार व्यक्तित्वहीन सन्तानें

उत्पन्न कर रहा था। औरगजेब के सभी उत्तराधिकारी कमचारिया के हाथ की कठपुतली थे। व्यक्तित्व का इतना घोर अकाल और किसी युग मे नही पडा।

(४) इसी समय देश पर भयकर बाह्य आक्रमण हुए—नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के हमलो न गिरती हुई दीवारो का एक धक्के मे धराशायी कर दिया। दिल्ली के कत्ल आम और पानीपत की पराजय न देश के रहे सहे नैतिक बल को भी नष्ट कर दिया।

(५) इस युग का शासन विधान स्वच्छाचारी राजतन्त्र था जा सनिक सामन्तीय पद्धति पर चल रहा था। औरगजेब के अशक्त उत्तराधिकारिया के हाथ मे पडकर वह ऐसा अस्त व्यस्त हो गया था कि उपयुक्त विधान के सभी दुर्गुण उसम उभर आए थे।

(६) शाहजहा न अपन शासन-काल के उत्तराध म जिस धार्मिक असहिष्णुता का श्रीगणेश कर दिया था औरगज़ेब ने उसे पूणता को पहुँचा दिया। परिणाम-स्वरूप हिदू और मुसलमाना मे पाथक्य की एक तीखी चेतना उत्पन्न हो गई थी। दोना ही निर्वीय हा चल थे। हिदू पदाक्रात थे और मुसलमान विलास जजर।

सामाजिक परिस्थिति

जैसा कि डॉ० इश्वरीप्रसाद न लिखा है भारतीय इतिहास यहा क सम्राटो के जीवन और उनकी विजय पराजय का इतिहास है, विदेशी यात्रिया के अतिरिक्त किसी भी दशी इतिहासकार ने भारतीय जनता के सामाजिक जीवन का विवरण नही दिया—

"शाहजहाँ के समय मे हिदुस्तान का समाज सामन्तीय आधार पर स्थित था। सम्राट् इस सामाजिक व्यवस्था का केन्द्र था, उसके अधीन मनसवदार या अमीर थे जा ऊँचे-ऊँचे आहदा पर थे। इनके बाद साधारण कमचारिया का वग था, जो राज्य के छाटे छोट विभागा म काम करते थ। उस समय का मध्यवग अधिकतर इही लागा से निर्मित था। इनके अतिरिक्त, व्यापारी, साहूकार, दूकानदार आदि भी थे, परन्तु य लोग आर्थिक दृष्टि से मध्यवग की स्थिति मे हात हुए भी शिक्षा सस्कृति से हीन थ। निम्न वग म नौकरी पशा लोगा और मजदूरा के अतिरिक्त भारत का वृहत् कृपक समुदाय भी था, जा सोना पदा करके मिट्टी पर गुजर कर रहा था। आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से सारा समाज दो वर्गा मे विभक्त किया जा सकता था—एक उत्पादक वग और दूसरा भाक्ता वग। उत्पादक वग मे कृपक-समुदाय और श्रमजीवी थे। य लाग शासन और युद्ध के मामलो से सवथा पृथक रहकर अपन खेती व्यापार

के कामों में लगे रहते थे, सरकार को कर देते थे और उसके बदले आंतरिक तथा बाह्य उपद्रवों से त्राण पाते थे। शासक वर्ग सम्राट के परिवार और दरबारों से लेकर उनके नौकर-चाकर और दासों तक फैला हुआ था। यह वर्ग राज्य की शक्ति था, अतएव उत्पादक वर्ग पर इसका पूर्ण प्रभुत्व था। सामाजिक स्थिति भी स्वभावतः इनकी श्रेष्ठतर थी। इन दोनों के बीच बहुत बड़ा अंतर था—शासक और शासित—शोषक और शोषित का।"

कवि और कलावन्तों की विचित्र स्थिति

इन दो वर्गों के अतिरिक्त एक तीसरा वर्ग विद्वानों का था, जो बादशाह, बड़े अमीरों और छोटे-छोटे रईसों के आश्रय में रहते थे। कवि और विशिष्ट कलाकार इसी वर्ग के प्राणी थे। इस प्रकार इस युग में कवियों और कलावन्तों की स्थिति कुछ विचित्र थी। जन्म से इनका सम्बन्ध प्रायः निम्न और मध्य वर्ग से होता था, परन्तु रहते थे उच्च वर्ग के आश्रय में। अतएव यद्यपि इनके व्यक्तित्व का निर्माण दोनों वर्गों के विभिन्न संस्कारों से ही होता था फिर भी उसमें प्रधानता उच्च वर्ग के संस्कारों और उसकी आशा-आकांक्षाओं की रहती थी क्योंकि बाद में निर्धन जनता से इनका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता था। निम्न वर्ग न तो इतना सम्पन्न ही था कि इनकी कृतियों पर पुरस्कार दे सके और न इतना शिक्षित ही कि उनका रस ले सके। परन्तु शाहजहाँ के उपरान्त इन लोगों के लिए राजकीय आश्रय का द्वार भी बन्द हो गया और औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद तो साम्राज्य की शक्ति का विकेन्द्रीकरण वेग से आरम्भ हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि कवि और कलाकार भी दिल्ली के दरबार को छोड़कर विभिन्न राजाओं, सूबेदारों, नवाबों और रईसों के दरबार में बिखर गये, स्वभावतः उनकी भी सामाजिक स्थिति बहुत गिर गई।

मुग़ल-परिवार और मुग़ल दरबार

शाहजहाँ का राज्य-काल वैभव और ऐश्वर्य से जगमग था। बर्नियर, ट्रैवर्नियर, मनूची आदि विदेशी यात्री सम्राट के दरबार का ऐश्वर्य देखकर स्तब्ध हो गये थे। उन सभी ने चित्रमय मुग़ल दरबार की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। सम्राट की व्यक्तिगत जीवन चर्या पर अपार धन राशि व्यय की जाती थी। सम्पूर्ण मुग़ल परिवार में रत्नों और मणियों का मुक्त प्रयोग होता था। उनके वस्त्रों और आभूषणों के व्यय का अनुमान लगाना साधारणतः असम्भव था। सम्राट के लिए प्रतिवर्ष एक हज़ार बहुमूल्य वस्त्र तैयार होते थे, जो वर्ष के अन्त तक दरबार में आने वाले अमीर उमराओं को भेंट कर दिये जाते थे। शाहजहाँ वैभव और विलास की मूर्ति था। उसका शरीर स्वर्ण

खचित वस्त्रो, रत्न हारा और बहुमूल्य इत्रा से आपूर्ण रहता था। मुगल अन्त पुर या वैभव इन्द्र भवन का मात करता था। बर्नियर लिखता है—"मैंने (मुगल हरम मे) प्राय प्रत्येक प्रकार क जवाहिरात देखे ह, जिनमे बाज तो असाधारण है। व इन मोती की मालाआ का कधा पर ओढनी की तरह पहनती ह। इनक साथ दोना तरफ मातिया की कितनी ही मालाए हाती है। सिर मे व मातिया का गुच्छा सा पहनती है, जा माथे तक पहुँचता है, और जिसके साथ एक बहुमूल्य आभूषण जवाहिरात का बना हुआ सूरज, और चाँद की आकृति का होता है। दाहिनी तरफ एक गोल छोटा सा गहना होता है जिसम दा मोतिया क बीच जडा हुआ एक छाटा सा लाल हाता है। कानो म बहुमूल्य आभूषण पहनती है और गदन के चारा तरफ बड बड मातिया तथा अन्य बहुमूल्य जवाहिरात क हार, जिनके बीच मे एक बहुत बडा हीरा, लाल, याकूत या नीलम और इसके बाहर चारा तरफ बडे बड मोतियो के दान हाते है।" एक शब्द म इन बगमा का सारा शरीर आपादचूड जवाहिराता से ढका हुआ हाता था। इनकी पाशाकें बहुमूल्य और इत्र मे बसी हुई होती थी—दिन म न जाने कितनी बार य वस्त्र बदलती थी। रीति-काव्य की वासक सज्जाआ को इनस सीधी प्रेरणा मिलती हागी। दरबार के अमीरा और कमचारिया का जीवन भी कम एश्वयपूर्ण नही था। अधिकृत राजा भी अपने मुगल-अधिपतिया का अनुसरण करत थे। उनके महला म भी इन्द्र सभा जुडी रहती थी। अवध के नवाबा और जयपुर, मारवाड आदि के हिन्दू राजाआ के जीवन वृत्त इसके साक्षी है। य लोग भव्य भवना म रहत थ, जा विलास की सामग्री स जगर मगर होते थे। उत्सवो और पर्वा के दिना म इनम शोभा का स्वर्ग उतर आता था। तुलना कीजिए

(१) प्रतिबिम्बित जय साहु दुति दीपति दरपन धाम।
सब जगु जीतन को करयो काय-व्यूहु मनु काम॥ (बिहारी सतसई)

(२) फटिक सिलान सो सुधार्‌यो सुधा-मदिर,
उदधि-दधि को सो अधिकाई उमग अमद।
बाहिर ते भीतर लौं भीति न दिखय 'देव'
दूध-कसो फेनु फलो आगन फरस बद॥
तारा-सी तरुनि ताम ठाढी झिलमिलि होति,
मोतिन की जोति मिली मल्लिका को मकरन्द।
आरसी से अम्बर मे आभा-सी उज्यारी लागै,
प्यारी राधिका को प्रतिबिम्ब-सो लगत चद॥ (दव सुजान विनोद)

नगर से बाहर चित्र विचित्र उपवन और उद्यान सुशोभित थे और स्थान स्थान पर रमणीक सरोवर, जिनके पार्श्वों पर खडे हुए बिहारी और देव जैसे अनेक रसिक 'मणि कुच आचर विच्च वाह' देकर भीग पट घर को जाने वाला सुदरियो की शोभा निरखते रहने होगे। औरगजेब के बाद जब देश की समृद्धि का क्षय होने लगा तो वास्तविक वैभव का स्थान वैभव के प्रदशन ने ले लिया, जो घोरतर पतन का सूचक था।

विलास और शृगारिकता

वैभव और विलास का सहज सम्बध है। अतिशय वैभव का यह युग अतिशय विलास का युग भी था। मुगल अत पुर मे हजारो स्त्रियां रहती थी। बर्नियर के साक्ष्य के अनुसार बहुधा राजमहलो मे भी भिन्न भिन्न वर्णो और जातियो की २००० स्त्रियां रहती थी—जिनके कर्त्तव्य कम भिन्न भिन्न होते थे। इनमे अनेक बादशाह की सेवा और बहुत सी शाहज़ादियो के मनोरजन और शिक्षा आदि के लिए नियुक्त थी। शिक्षा प्राय आशिकाना गजलो फारस की अश्लील प्रेम कहानियो आदि की ही होती थी। इनमे से बुडढी स्त्रियो से जासूसी का काम लिया जाता था। ये कुटनियां स्थान स्थान से सुदरी स्त्रियों को धोखे फरेब या लालच से महल मे ले आती थी। रीति काव्य की दूतियां बहुत कुछ इनकी ही प्रतिरूप थी। सम्राट के महलो मे सुदरी के साथ सुरा का भी उन्मुक्त व्यापार था। मदिरा पान उस समय का सबसे भयकर व्यसन था। हिन्दू और मुसलमान समान रूप से धार्मिक निषेधो का उपहास करते हुए मदिरा का निर्बाध सेवन करते थे। अमीरो और राजाओ के महलो मे शृगारिकता का नग्न नृत्य होता था। सैनिक शिविरो मे भी वश्याओ का जमाव रहता था—मुगल सेना की सहायता के लिए कामदेव की भी वृहत सेना चला करती थी। छोटे छोटे अधिकारियो और रईसो के सामने भी यही आदश था और उनका भी सारा समय भोग विलास मे ही व्यतीत होता था जिसका विवरण देव और अन्य कवियो के अष्टयामो मे अत्यन्त स्पष्ट रूप से मिलता है।

औरगजेब ने इस अतिचार को बन्द करने का प्रयत्न किया, उसने सुरा और अन्य मादक वस्तुओ को निषिद्ध कर दिया। वश्याओ को शादी करने पर मजबूर किया, परन्तु समस्त देश मे वासना का सागर ऐसे प्रबल वेग से उमड रहा था कि शुद्धिवादी सम्राट के सभी निषध प्रयत्न उसमे बह गए। अमीर उमराओ ने उसके निषेध पत्रो को शराब की सुराही मे उसी तरह गर्क कर दिया, जिस तरह कि कुछ वर्ष बाद स्वय औरगजेब के उत्तराधिकारी मुहम्मद

शाह रँगीले ने नादिरशाह के पत्र को गर्क कर दिया था। मदिरा और प्रमदा के अतिरिक्त विलास के अन्य साधन भी प्रचुर मात्रा में वर्तमान थे। अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोजन और पकवानों का उपयोग होता था। साहित्य में बदनाम 'पद्माकर' का छंद उसकी एक क्षीण झाँकी भर देता है

गुलगुली गिलमे गलीचा है गुनीजन हैं,
चादनी हैं चिक हैं चिरागन की माला हैं।
कहै 'पद्माकर' त्यो गजक गिजा हैं सजो,
सेज हैं सुराही हैं, सुरा हैं और प्याला है॥
शिशर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हैं,
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं।
तानतुक ताला हैं विनोद के रसाला हैं।
सुबाला हैं दुशाला हैं बिशाला चित्रशाला है॥ (जगद्विनोद)

विलास की अगणित ललित क्रीडाओं का सचय था। अन्त पुर में शतरंज, चौसर और गंजीफा के खेल इनका मनोरंजन करते थे बाहर शिकार या पतंगबाजी। तरह-तरह के पशु पक्षी—कबूतर, लाल, तोता, मैना आदि के स्वरों से रनिवास गूंजते रहते थे। अकबर के जमाने की हाथी और चीतों की लडाई का स्थान अब बाज और मिकरा की लडाई ने ले लिया था।

बिहारी के अनेक दोहों में इनका प्रतिबिम्ब मिलता है

(अ) उडत गुडी लखि लाल की अँगना अँगना माह।
बौरी लौं दौरी फिरति, छुवति छबीली छाह॥
(आ) ऊँचे चित सराहियत, गिरह कबूतर लेतु।
झलकित दृग मुलकित बदनु तनु पुलकित किहि हेतु॥ (सतसई)

देश की परिस्थिति ज्यों ज्यों बिगडती गई, त्यों त्यों विलास के ये साधन भी अधिक अस्वस्थ होते गए जिनसे समाज का मानस पूर्णत विकृत हो गया।

श्रमी वर्ग

श्रमी वर्ग की दशा इसके बिलकुल विपरीत थी। वर्ण व्यवस्था का लोप हो चुका था अत समाज व्यवसाय और पेशों के अनुसार भिन्न भिन्न वर्गों में विभक्त था। सभी वर्णों के लोग सुविधानुसार प्राय सभी काम करते थे परन्तु इन बेचारों का जीवन दैन्य और शोषण से आक्रान्त था। इनमे अधिकतर आबादी किसानों ही की थी। दिन भर काम करने के उपरान्त ये गरीब सिर्फ एक बार ही भोजन कर पाते थे। मुगल बादशाहों के असख्य युद्ध बहुमूल्य इमारतें, उनके और उनके अमीरों के विलास वैभव सभी का

भार अन्त में जाकर इन किसानों पर ही पड़ता था। सचमुच इस समय के प्रासाद इन्हीं लोगों की हड्डियों पर खड़े हुए थे, इन्हीं के आँसू और रक्त की बूंद जमकर अमीरों के मोती और लालों का रूप धारण कर लेती थी। राजा के अबाध अपव्यय की क्षति-पूर्ति अनेक प्रकार के उचित-अनुचित कर्मों द्वारा की जाती थी, कर्मचारीगण राजा का और अपना उदर किसानों का खून चूसकर भरते थे। सम्राट, सूबेदार, फौजदार, जमींदार सभी का शिकार बेचारा किसान था जिसके कष्टों को केवल भगवान् ही शायद सुन सकता था। शाही सेना के सिपाही, बनजारों की टोलियाँ, राजपूताने के डाकू उनकी हरी भरी फसलों को तहस-नहस कर देते थे, घर बार लूट लेते थे। दीन प्रजा सर्वथा त्रस्त होकर त्राहि त्राहि कर उठी थी। मजदूरों और कारीगरों को यों ही बेगार के लिए पकड़ लिया जाता था। उनकी मज़दूरी अक्सर कोड़ से मिलती थी। उधर भयंकर अकाल और महामारी के प्रकोपों ने उनका जीवन असह्य कर दिया था। इस प्रकार हिन्दुस्तान की आर्थिक स्थिति एक साथ बिगड़ गई थी। देश का धन समृद्धि का ही नाश नहीं हुआ वरन शिल्प, कौशल, संस्कृति और कला की भी दुर्गति हो गई थी।

हिन्दू मुसलमानों की जातीय स्थिति

हिन्दुओं की राजनीतिक पराजय ने उनके जातीय संगठन को सर्वथा छिन्न भिन्न कर दिया था। किसी दृढ़ आधार के अभाव में हिन्दुओं में जाति भेद की भावना प्रबल हो उठी थी। वेद मन्त्रों के उच्चारण अथवा यज्ञोपवीत धारण करने के अधिकारों को लेकर उनमें आपस में भयंकर संघर्ष चल रहे थे। धार्मिक दम्भ अबाध गति से बढ़ रहा था। शूद्र सर्वथा अस्पृश्य समझे जाते थे उधर मुसलमान समस्त हिन्दू जाति को ही हीन समझते थे। शासन उनका था ही, अतएव हिन्दुओं की अपेक्षा उनकी सामाजिक स्थिति का श्रेष्ठतर होना स्वाभाविक था। हिन्दुओं के साथ शाहजहाँ के समय से ही ज्यादतियाँ हो रही थीं उनके मन्दिर तुड़वा दिये गए थे, विद्यालय और पुस्तकालय नष्ट कर दिये गए थे उत्सव और मेलों पर प्रतिबन्ध था। राज्य के पदाधिकार उनके लिए प्रायः वर्जित ही थे। इस प्रकार हिन्दू मुसलमानों में पार्थक्य की एक तीव्र चेतना अब भी बनी हुई थी। परन्तु औरंगजेब के बाद ज्यों ज्यों मुगल शासन क्षीण होता गया और देश विपत्तिग्रस्त होता गया यह पार्थक्य कुछ कम अवश्य होने लगा था। उनके सामाजिक सम्पर्क गहरे होने लगे—निर्गुण सन्तों और सूफी फकीरों के प्रभाव से उनकी धार्मिक भावनाओं में भी थोड़ा बहुत समन्वय हुआ। उधर उनके पारस्परिक आचार विचारों में भी

बहुत कुछ समता आ गई। हिन्दू मुसलमानो के उत्सव, संस्कार रीति रिवाज, आमोद प्रमोद आदि में साधारणत भेद करना कठिन हो गया। गाँव के लोगो के व्यवहारो म तो यह अभेद और भी अधिक था। परन्तु यह एकता किसी प्रकार स्थायी नही थी—थोड़े से भी उलट फेर से स्थिति बिगड़ जाती थी, स्वय मुसलमानो मे शिया और सुन्नी का, तूरानी और ईरानी का भयकर भेद भाव था।

नैतिक अवस्था

राजनीतिक और सामाजिक अधोगति का स्वाभाविक परिणाम था नैतिक अधोगति। हिन्दू युग युग से पदाक्रान्त रहने के कारण और मुसलमान विलास तथा आन्तरिक एव बाह्य द्वन्द्वो स जर्जर होकर अपना नैतिक बल खो बैठे थे। दोनो की निर्बाध इन्द्रिय लिप्सा की ओर सकेत ऊपर हो चुका है, पर वह नैतिकता का एक पहलू है। उसके अतिरिक्त अन्य सभी पहलू भी इस युग म सर्वथा दुर्बल हो गये थे। अपने अनियन्त्रित अपव्यय को भरने के लिए कर्मचारी वर्ग खुले आम रिश्वत लेता था। बड़े बड़े अधिकारियो से लेकर छोटे छोटे कर्मचारियो तक रिश्वत का बाजार गर्म था। स्वय बादशाह ओहदे बेचते थे और आवश्यकता पड़ने पर दूसरो को उत्कोच देकर अपने पक्ष मे करने का प्रयत्न भी करते थे। औरगजेब ने अनेक दुर्ग इसी प्रकार विजय किये। अनेक हिन्दुओ को धन और ओहदो का लालच देकर मुसलमान बनाया। उसके बाद के सम्राट शक्तिशाली अमीरो और बाह्य आक्रमणकारियो से घूस देकर ही अपनी रक्षा करते रहे। शाही खानदान विलासजन्य दुर्गुणो का केन्द्र था—वहाँ ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट और षडयन्त्रो का नगा नाच होता था। उत्तराधिकार के लिए होने वाले षडयन्त्रो और युद्धो मे मुगल राजकुमारो ने जिस नृशसता और पापाचार का परिचय दिया उसका नैतिक प्रभाव जनता पर बहुत ही बुरा पड़ा। प्रजा के हृदय से स्वामि भक्ति, सत्याचरण और कर्त्तव्य निष्ठा की भावनाएँ लुप्त हो गइ, स्वार्थ साधना प्रबल हो उठी। बाद मे जहाँदारशाह जैसे बादशाहो ने तो मुगल वश का गौरव बिलकुल ही धूल म मिला दिया। उसकी रखैल लालकुँवर स्वय सम्राट् और बड़े बड़े अमीरो का जनता मे अपमान कर देती थी। यही व्यवहार राजपूताना म मारवाड़ नरेश विजयसिंह की पासवनी वेश्या उसके और उसके सामन्तो के साथ कर रही थी। शाहजादो, राजपुत्रो एव अमीरजादो की शिक्षा का उचित प्रबन्ध नही था। उनका भरण पोषण जिस कलुषित वातावरण म होता था, वह उन्हे विलासी और निर्वीर्य ही बना सकता था—उन पर हिजड़ो और युवती दासियो

का प्रभुत्व था। उनके शिक्षक भी वेतनभोगी सेवकों से अधिक सम्मान नहीं पाते थे। यही कारण था कि छोटी उम्र से ही वे (औरंगजेब के प्रधान मन्त्री के पोते) मिर्जा तफज्जुर की तरह बाजार में आवारागर्दी और औरतों से छेड़ छाड़ शुरू कर देते थे। जनता के आचार रक्षकों से प्रयत्न केवल पाखण्ड की ही वृद्धि कर रहे थे। नैतिक बल के ह्रास से लोग पूर्णत भाग्यवादी बन गए थे। सभी वर्ग के लोगों की ज्योतिष में प्रगाढ आस्था थी—सम्राट और अमीरों के साथ साथ ज्योतिषियों का एक समुदाय चलता था। हिन्दू नृपतियों की अंध आस्था का तो कहना ही क्या? वे तो शकुन के बिना पत्ता भी नहीं तोड सकते थे। इस घोर भाग्यवाद का स्वाभाविक परिणाम था नैराश्य। वास्तव में इस सम्पूर्ण युग को ही नैराश्य का गहन अन्धकार आच्छादित किए हुए था। शाहजहाँ और औरंगजेब के पत्रों में—इस युग की सभी घटनाओं में—विषाद की गहरी छाया स्पष्ट है और ज्यों-ज्यों समय बीतता गया यह छाया भी गहरी ही होती गई। भीषण राजनीतिक विषमताओं ने बाह्य जीवन के विस्तृत क्षेत्र में स्वस्थ अभिव्यक्ति और प्रगति के सभी मार्ग अवरुद्ध कर दिए थे। निदान लोगों की वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होकर अस्वस्थ काम विलास में ही अपने को व्यक्त करती थीं। बाह्य जीवन से भग्न होकर उन्हें अन्तःपुर की रमणियों की गोद में ही त्राण मिल सकता था। अतिशय विलास की रंगीनी नैराश्य की कालिमा में ही अपने रंगों का संचय कर रही थी। युग जीवन की गति जैसे रुद्ध हो गई थी।

धार्मिक परिस्थिति

धर्म की स्थिति और भी दयनीय थी। जैसा डॉ० ताराचन्द ने लिखा है—इस समय हिन्दू और मुस्लिम धर्म के अनुयायियों में तीन प्रकार के लोग थे पहला वर्ग विद्वानों पण्डितों और मौलवियों का था, जो विधिवत शास्त्रीय धर्म का अध्ययन और अनुसरण करते थे। ये लोग अपने धर्म ग्रन्थों की आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करते थे। अपना धर्म इनके लिए एक सनातन सत्य था और शास्त्रों की वाणी ईश्वर की वाणी थी जिसमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं था। हिन्दी प्रान्तों में शास्त्रीय धर्मों में इस समय मुख्यत वैष्णव धर्म की शाखा प्रशाखाओं का प्रचार था और उनमें भी सबसे अधिक प्रचलित श्री कृष्ण भक्ति शाखा, क्योंकि वही युग की प्रवृत्ति के अनुकूल थी। कृष्ण सम्प्रदाय में भी इस समय तक कई उप सम्प्रदाय आविर्भूत हो गए थे और विभिन्न स्थानों पर उनकी गद्दियाँ विद्यमान थीं। वल्लभ सम्प्रदाय में विट्ठलनाथ जी की मृत्यु के उपरान्त उनके सात पुत्रों ने गोकुल, कामबन,

काँकरौली, श्रीनाथद्वारा, सूरत, बम्बई और काशी म भिन्न भिन्न मात गद्दिया स्थापित कर ली थी। इन लोगा मे अनेक विद्वान् हुए—उदाहरणार्थ काँकरौली के गो० हरिरायजी महाराज, जिन्होंने श्रीनाथजी की 'प्राकट्य वार्ता' का प्रणयन किया। इनके अतिरिक्त अन्य गोस्वामियो ने भी वल्लभाचाय के अणु भाष्य की व्याख्या करने का क्रम प्रचलित रखा, परन्तु गोकुलनाथजी के उपरान्त इस सम्प्रदाय म किसी ने भी मौलिक एव महत्त्वपूर्ण काय नही किया। बाद म गद्दिया के स्थापित हो जाने से इन लोगा पर भी देश की तत्कालीन लोक रुचि का प्रभाव पडा। वभव के अभिशाप से य भी अछूत नही रह पाए। इन गोस्वामियो का सम्पक राजाओ और श्रीमानो से बढने लगा और य उन्ह ही गुरु दीक्षा देने के लिए लालायित रहने लगे। जनता की इनकी गद्दिया मे कोई पूछ नही थी, और चूकि ये लोग जनता मे बाहर जाकर धम का प्रचार नही करते थे, अतएव उससे उनका सम्पक स्वभावत ही कम हो गया था। साथ ही राजसी ठाठ बाट के वातावरण म रहने के कारण इनकी साधना और तत्त्व चिन्तन म भी शैथिल्य आ गया था। धम का तात्त्विक विकास एकदम रुक गया था और उसके स्थान पर भक्ति के बाह्य विलास अत्यन्त समृद्ध हो गए थे। सेवा-अचना की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विधिया का आविष्कार हो गया था। जब भक्त लोग इस प्रकार एश्वय और विलास मे सलग्न थे तो भगवान उनसे कस वचित रहते।

उनके विलास के लिए भी इतने साधन एकत्र किए गए थे कि 'अवध के नवाब तक को उनसे ईर्ष्या हो सकती, या कुतुबशाह भी अपने अन्त पुर म उनका अनुसरण करना गव की बात समझते।' यही दशा माधव, निम्बाक, चैतन्य तथा राधावल्लभीय सम्प्रदायो की गद्दियो की थी। उनम राधा की महत्ता के कारण शृगार भावना और भी स्पष्ट रूप से व्यक्त हो रही थी।

चैतन्य सम्प्रदाय का वृन्दावन और बगाल म खूब जोर था। कीतन की लोकप्रियता के कारण उसका जनता स घनिष्ठ सम्पक था। अत उसमे अपेक्षाकृत जीवन भी अधिक था। परन्तु उसने लोगो की भक्ति भावना के साथ परकीया भाव को भी प्रोत्साहन दिया। उधर रूपगोस्वामी ने सम्पूर्ण नायिका भेद को ही कृष्ण भक्ति म फिट कर दिया। कृष्ण सम्प्रदाय के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायो म भी इसी प्रकार तत्त्व चिन्तन क्षीण और बाह्य अचन-विलास समृद्ध हो चला था।

मठ और मन्दिर देवदासियो और मुरलियो के चरणो की छन छन मे गूजते रहते थे। महाराष्ट्र म अवश्य इस समय तुकाराम के अभगो और

रामदास के 'दास बोध' द्वारा धार्मिक जागृति हो रही थी। तुकाराम तुलसी और सूर की कोटि के सन्त और कवि थे। उनके अभंगों ने दक्षिण भारत की जनता को शुद्ध भक्ति रस में विभोर कर दिया और उधर रामदास ने भी जीवनगत धर्म की प्रतिष्ठा करके जनता में उत्साह और शक्ति का संचार किया। सिक्ख धर्म में भी यथेष्ट जीवन था परन्तु ये सभी धार्मिक प्रवृत्तियाँ हिन्दी प्रान्तों से बाहर पड़ती थीं। अतएव हिन्दी-साहित्य से उनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था। तात्पर्य यह है कि जन-जीवन की धारा से असम्पृक्त रहकर धर्म इस युग में रूढ़िवाद बन गया था। जीवन की शक्ति उसमें नहीं रह गई थी। सम्पन्न हिन्दुओं में धर्म के प्रति आस्था तो निःशेष हो चुकी थी, केवल धर्म भीरुता शेष थी। इस युग के सम्राटों का दृष्टिकोण पूर्णतः ऐहिक था और उनके प्रभाववश उनके निकट सम्पर्क में आने वाले उच्च वर्ग और सम्पन्न मध्य वर्ग का भी यही दृष्टिकोण हो गया था। मुसलमानों के लिए तो इस ऐहिकता को स्वीकार कर लेना सहज था परन्तु हिन्दुओं का पूरी तरह इसी रंग में रँग जाना उतना सरल नहीं था। उनकी प्रवृत्ति उन्हें ऐहिकता की ओर खींचती थी, परन्तु संस्कारों पर परलोकवाद का बोझ था। परिणाम यह हुआ कि धर्म का नीति और विवेक से सम्बन्ध टूट गया। धर्म की आन्तरिक आत्मिक शक्ति क्षीण हो गई। बाह्य विलास और प्रसाधन बढ़ गए और विलासी लोग धर्म के इन्हीं शृंगारपरक रूपों की ओर आकृष्ट होने लगे, जिनमें उनके अपने विलासपूर्ण जीवन का समर्थन मिलता था। इस प्रकार इस युग में धर्म का स्वस्थ दार्शनिक आधार सर्वथा नष्ट भ्रष्ट हो गया था।

इस्लाम को हिन्दू धर्म की अपेक्षा विजेताओं का धर्म होने का लाभ था, परन्तु उसके अनुयायियों का भी धार्मिक जोश ठण्डा पड़ गया था। मुल्ला और मौलवी यद्यपि अब भी विभिन्न जलवायु और देश-काल में रची हुई कुरान की आयतों का कट्टरता से पालन कर रहे थे 'हिफ्जे कलाम अल्लाह' का अब भी उनको उतना ही आग्रह था, परन्तु मुसलमानों के राजनीतिक और नैतिक अधःपतन का प्रभाव इस्लाम पर भी पड़े बिना नहीं रहा था। उसमें भी रूढ़िवाद का प्रचार बढ़ रहा था। मुसलमान जनता की आत्मिक तृप्ति कुरान को हिफ्ज करने भर से नहीं होती थी, क्योंकि हिन्दू शास्त्रों की भाँति कुरान भी सामयिक जीवन के प्रवाह से दूर पड़ गया था। रीति काल में धार्मिक आभिजात्य की यही दशा थी।

इनको छोड़कर अब दूसरे वृहत वर्ग पर आइए। यह अशिक्षित जन समुदाय का वर्ग था। ये लोग स्वभावतः अन्धविश्वासी थे। इनकी भक्ति

भावना धर्म के बाह्यांगों तक ही सीमित थी। ये लोग व्रत-तीर्थ आदि में विश्वास करते थे। सन्तों और पीरों की सब प्रकार की अन्ध-परम्पराओं और रीतियों का पालन करते थे। जादू टोने में भी इन्हें प्रगाढ़ विश्वास था। झुण्ड-के-झुण्ड स्त्री पुरुष पीरों के तकियों पर अपनी मुरादें लिये पहुँचा करते थे और ये लोग, जो अधिकांश में रँगे हुए सियार होते थे, उनको फर्जी तावीज वगैरह देकर खूब लूटते और भ्रष्ट करते थे। मनुष्य पूजा भी अपने विकृत रूप में वर्तमान थी। हिन्दू मुसलमान दोनों ही अपने गुरुओं और पीरों को ईश्वर का दर्जा देने लग गए थे। डॉक्टर सरकार लिखते हैं कि हिन्दुओं का अन्ध विश्वास यहाँ तक बढ़ गया था कि वे प्रत्येक विशाल बाहु व्यक्ति को हनुमान का अवतार मानकर पूजना शुरू कर देते थे। इतना होने पर भी बहुत बड़ी संख्या राम कृष्ण के ही उपासकों की थी। राम और कृष्ण की जीवन गाथा ही इनके लिए धर्म ग्रन्थ थी। वर्ष में रामलीला नियमित रूप से हुआ करती थी और विभिन्न पर्वों पर उत्सवों तथा कथा-कीर्तनों का आयोजन किया जाता था जिनमें 'रामचरितमानस' की कथा होती थी सूरदास और मीरा के पद गाये जाते थे। मुसलमानों में उर्स होते थे जहाँ सूफियाना गजलें और कव्वाली गा गाकर वे लोग अपनी भक्ति भावना प्रकट करते थे। इस प्रकार जनता की धर्म भावना उनके मनोविनोद का साधन भी थी। वही लौकिक संकटों में ग्रस्त नर-नारियों के हृदय में परलोक की आशा उत्पन्न करके उत्साह और उत्फुल्लता का संचार करती थी। अन्यथा उनका जीवन असह्य हो जाता। इस धार्मिकता में अन्ध विश्वास होते हुए भी जीवन की शक्ति थी क्योंकि इसका सीधा सम्बन्ध जनता के नित्य प्रति के संघर्ष से था। यह परम्परा का पालन मात्र नहीं था, जीवन की आवश्यकता थी।

इन दोनों धर्मों के अतिरिक्त एक तीसरा उदार वर्ग भी था जो शास्त्रीय कट्टरता और रूढ़िवाद से दूर रहकर हिन्दू और मुसलमान दोनों को एक समान आधार पर संयुक्त कर रहा था। यह वर्ग कबीर नानक, दादू आदि निर्गुण सन्तों की परम्परा का अनुयायी था। इनका मूल सिद्धान्त था ईश्वर की अविभाज्य एकता, जिसका आधार हिन्दुओं का वेदान्त और मुसलमानों का एकेश्वरवाद था। ईश्वर की एकता का स्वाभाविक परिणाम है सृष्टि की एकता—अर्थात् जीव मात्र की समानता। ईश्वर के प्रेमी का कर्तव्य है कि वह उसकी सृष्टि के जीव मात्र से समान प्रेम करे। अतएव हिन्दू मुसलमान ब्राह्मण शूद्र का अन्तर मिथ्या है। संसार दुःखों की खान है। इसलिए संसार से विमुख होकर परमार्थी को ईश्वर में प्रेम करना चाहिए। जीवन में त्याग

और तपस्या की आवश्यकता है। तत्त्व चिन्तन और आन्तरिक भक्ति से परमात्मा मिलता है, बाह्य आचारों से नहीं। स्वभावतः ये लोग व्रत, तीर्थ, रोजा नमाज जात पाँत, अवतारवाद मूर्ति-पूजा और शास्त्रीय धर्म की अन्य विधियों का तिरस्कार करके केवल आत्म शुद्धि को ही मुक्ति का साधन मानते थे। इनके लिए निर्गुण ब्रह्म में लीन होना ही मानव जीवन की सार्थकता थी। प्रेम का मार्ग बड़ा कठिन है उस पर चलना गुरु के बिना असम्भव है। अतएव सन्त गुरु की इन सम्प्रदायों में बड़ी महिमा थी। इन सन्तों ने हिन्दुओं से योग और सूफियों से प्रेम की भावना ग्रहण की थी।

हिन्दुओं में इस प्रकार के अनेक पंथ वर्तमान थे जिनमें मलूकदासी लाल दासी नारायणी आदि सत्रहवीं शताब्दी में प्रमुख थे। धरनीदास और प्राणनाथ के अनुयायियों का प्रचार प्राय अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक था। इनमें जगजीवन बुल्ला साहब, चरनदास और उनकी दो शिष्याएँ सहजोबाई और दयाबाई अपने पवित्र जीवन और मधुर बानियों के लिए प्रसिद्ध है। इनके बाद दूलनदास, भीखा पलटूदास आदि हुए, जो उन्नीसवीं शताब्दी तक जीवित रहे। ये पंथ भेद भाव से रहित होने के कारण पूर्णत सुसगठित थे और आवश्यकता पड़ने पर अपनी शक्ति का परिचय भी दे सकते थे, जैसा कि औरंगजेब के समय में सतनामियों ने किया। इनमें से काफी ऐसे भी थे जो संयत रूप से सांसारिक जीवन व्यतीत करते थे। घर बार छोड़कर जंगल में धूनी रमाना इन्हें प्रिय नहीं था। ये विवाहित थे और स्त्री-पुरुष दोनों को समान रूप से उपदेश देते थे। समाज के निम्न वर्ग में से उद्भूत होने के कारण इनमें सामाजिक मिथ्याचार नहीं था। इसलिए उपेक्षित जनता पर इनका अधिक प्रभाव था। लेकिन धीरे धीरे सम्पन्न व्यक्तियों के दीक्षित होने से इनमें भी गद्दियाँ बनने लग गई थीं, जिससे इनमें भी विलास वैभव की तृष्णा उत्पन्न हो चली थी।

मुसलमानों में भी इनके समानान्तर कई सिलसिले थे, जिनमें शेख मुईनुद्दीन चिश्ती का चिश्तिया सिलसिला सब से अधिक प्रभावशाली था। इसके अतिरिक्त निजामिया नक्शबंदिया कादिरिया सत्तारिया इत्यादि और भी सिलसिले काफी लोकप्रिय थे। हिन्दुओं के पंथों और मुसलमानों के इन सिलसिलों में बहुत सी बातें मिलती जुलती थीं—"दोनों का विश्वास था कि ईश्वर एक है पर उसके अनेक नाम हैं। दोनों समझते थे कि बिना किसी धार्मिक शिक्षक (गुरु या पीर) की शरण लिए मुक्ति प्राप्त करना कठिन है। आत्मा को पहचानने के लिए वे एक ही प्रकार के तरीकों का व्यवहार करते

थे। दोनो ध्यान और समाधि क साधन और इस माग के अनुभव और अवस्थाएँ एक समान जानते थे। दाना कपट, दिखावटी कम काण्ड और पूजा पाठ को, आदमी आदमी के भेदा को, वह जन, धन या स्थिति चाह किसी पर निभर हो, बुरा कहते थे। शांति और तपस्या के जीवन का एकमात्र आदश उन्ह आकर्षित करता था। दाना के हृदया मे इस ससार के त्याग की परमा काक्षा थी और दाना का उद्देश्य इश्वर के प्रेम का जीवन था। यह पवित्र धम मनुष्या की आत्मा और चरित्र को ऊँचा उठाता था। इसके प्रभाव स समाज म सब वर्णो और जातिया के लोगो की स्वतन्त्रता और बराबरी की समान इच्छा जागृत हुई। मनुष्य का स्त्रिया के प्रति भाव बदलन लगा, बहुत स सुधार के काय उठाए गए और हिन्दुआ मुसलमाना मे निकट का सम्पक स्थापित हुआ।"[1]

फिर भी समग्र रूप म विचार करत हुए इन पथ प्रवतका को विशेष महत्त्व देना अनुचित होगा, क्योकि इनम स कोई भी मौलिक प्रतिभावान नही था। इनके सिद्धान्त कबीर क सिद्धान्ता की क्षीण पुनरावृत्ति मात्र थे। इनमे स किसी न भी तत्त्व दशन मे कोई मौलिक योग नही दिया और न सन्त साहित्य की विशेष श्री वृद्धि ही की। कबीर की क्रान्तिदर्शी प्रतिभा, नानक और दादू की द्रवणशीलता और सुन्दरदास की विद्वत्ता इनम दुलभ थी। ये लोग तो बानिया के प्रचारक मात्र थे—स्रष्टा नही। प्रगति और सुधार का वह दुदम उत्साह, आहत आत्मा की वह पुकार, जिसन १५वी शताब्दी म सामाजिक और धार्मिक क्रान्ति उपस्थित कर दी थी, इस पतन काल मे सम्भव नही थी।

बौद्धिक ह्रास

इस समय हिन्दुस्तानिया का बौद्धिक धरातल बहुत नीचा हो गया था। हिन्दुआ क लिए पृथ्वी और स्वग दाना का ही माग बन्द था, उनके व्यक्तित्व विकास क लिए कोई क्षेत्र नही था। युग युग की दासता न उनक नैतिक बल क साथ बौद्धिक प्रतिभा भी नष्ट कर दी थी। रामचरितमानस' के स्थान पर अब ब्रज विलास की ही रचना हो सकती थी। सूर और नन्ददास की प्रतिभा सवथा लुप्त हो चुकी थी, परन्तु उनकी शृगारिकता का निर्जीव अनुकरण अब भी बडे उत्साह के साथ हो रहा था। कृष्ण-काव्य की दिव्य प्रेरणा के स्थान पर अब स्थूल ऐन्द्रियता या निष्प्राण अलकरण ही शेष रह गया था। अयाध्या के भक्त कवि राम का भी इसी रूप मे अत्यन्त शृगारिक चित्रण कर रहे थे।

---

[1] डा० ताराचन्द—'हिन्दुस्तान के निवासियों का सक्षिप्त इतिहास'

कबीर का स्थान उनर पलटू या भीखा साहब ने ले लिया। संस्कृत साहित्य का विकास तो जैसे सवथा अवरुद्ध सा ही हो गया था। पण्डितराज जगन्नाथ के उपरान्त साहित्य शास्त्र में केवल नजराजयशाभूषण' का नाम मिलता है जो कवि शिक्षा का एक अत्यन्त साधारण ग्रन्थ है। काव्य मे जो दो ग्रन्थ मिलते है उनमे चमत्कार-क्रीडा और घोर शृगारिकता की प्रवृत्ति ही शेष है। मारापन्त की 'मन्त्र रामायण शाब्दिक क्रीडा का और लक्ष्मणाचार्य की चण्डी कुच पचाशिका घोर शृगारिकता का निकृष्ट उदाहरण है।

मुसलमानो का भी बौद्धिक ह्रास बड वग से हो रहा था। अकबर जैसे उदाराशय सम्राट के सामने सभी को आत्माभिव्यक्ति का समुचित अवसर मिलता था। दूसरे मुसलमान हिन्दुस्तान को ही अपना देश समझने लगे थे। अतएव उनकी सभ्यता सस्कृति और उनके साथ उनकी प्रतिभा का यहा की उवरा भूमि म सहज विकास हो रहा था। परन्तु औरगजेब की सकुचित मनोवृत्ति न एक ओर तो मुसलमानो के हृदय म यह भावना उत्पन्न कर दी कि उनकी मातृभूमि अरब ही है—अरब और फारस की सस्कृति ही उनकी सस्कृति ह, दूसरी ओर उसकी कठोर अहवादी नीति न अपने पुत्रो तक को व्यक्तित्व विकास का अवसर नही दिया था—अमीर उमराओ की तो बात ही क्या ? उस समय प्रतिभा का विकास राज दरबार के आश्रय म ही सम्भव था परन्तु राज-दरबार का वातावरण उसके लिए सवथा प्रतिकूल हो गया था। इसके अतिरिक्त अरब फारस की सस्कृति से कृत्रिम प्रेरणा प्राप्त करने वाली प्रतिभा भी कैसे पनप सकती थी ? मुसलमानो का साहित्यिक माध्यम भी फारसी ही थी परन्तु फारस म हिन्दुस्तान के अच्छे स अच्छे कवि की गणना साधारण श्रेणी के अन्तगत की जाती थी। खुसरो और फैजी तक को दूसरी श्रेणी का कवि माना जाता था—फिर जत्ताली की तो पूछ ही कहाँ होती ? शाहजहा के समय से ही फारसी साहित्य का ह्रास आरम्भ हो गया। अकबर के समय जो साहित्य रचा गया था—उसम तत्कालीन सम्राट् के व्यक्तित्व और उससे प्रभावित लोक जीवन की उदात्त उच्चाशा-आकाक्षाओ का विस्तार और बल था। परन्तु उसके बाद विस्तार और मुक्त प्रगति मे अवरोध आरम्भ हो गया, शान्ति की स्थिरता आने लगी, जो क्रमश विलास और अलकरण की ओर झुकती गई। फलत साहित्य म भी नैतिक स्फूर्ति और सशक्त शैली के स्थान पर अलकृति का प्राधान्य होने लगा। इस समय का फारसी गद्य भी अत्यन्त अलकृत है—उसमे सवत्र शब्द और अथ का चमत्कार और भाषा की ललित क्रीडा मिलती है। चार चमन इस प्रकार के गद्य का प्रतिनिधि ग्रन्थ

06/07-9442

कहा जा सकता है। औरंगजेब के बाद तो मुसलमानों की स्थिति बिगड़ती ही गई। उनकी विलास जीर्ण जाति शताब्दियों बाद कहीं मीर और ग़ालिब पैदा करने में समर्थ हो सकी।

कला की प्रवृत्ति

मुगल वैभव का युग कला के वैभव का भी युग था। इस समय ललित और उपयोगी दोनों प्रकार की कलाओं ने अभूतपूर्व उन्नति की। कलाप्रिय मुगल सम्राटों ने फारसी और हिन्दू शैली के सम्यक संयोग से विलासपूर्ण मुगल शैली का निर्माण किया जिसकी छाप तत्कालीन स्थापत्य, चित्रण, आलेखन आदि ललित कलाओं और जवाहरात—सोने चांदी के काम, कढ़ाई, बुनाई इत्यादि पर भी स्पष्ट अंकित है। इन सभी में ऐश्वर्य का उल्लास है।

स्थापत्य कला

शाहजहां के राजत्व-काल में स्थापत्य कला अपने चरम ऐश्वर्य पर पहुँच गई थी। उसके दृढ़ रसिक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम संग मरमर की रेशमी कठोरता ही हो सकती थी। उसने आगरा में मोती मस्जिद और ताजमहल का निर्माण किया और अपने राजत्व काल के उत्तरार्ध में दिल्ली के लाल किले के स्वर्गिक प्रासादों का। काल के कपोल पर स्थित नयन बिन्दु ताजमहल और पृथ्वी के एकमात्र स्वर्ग दीवान-खास की कलात्मक समृद्धि अपरिमेय है। अकबर की इमारतों के विराट सौन्दर्य के विपरीत, शाहजहां की इमारतों का सौन्दर्य सूक्ष्म कोमल है। एक की कला में यदि महाकाव्य (राम चरितमानस) की विराट गरिमा और दिगन्त विस्तार है तो दूसरे की कला में अलंकृत गीत-काव्य (बिहारी के दोहों) की रसात्मकता और सूक्ष्म चमत्कार है। मणिकुट्टिम की चित्र विचित्र कला यहां चरम समृद्धि को पहुँच गई है—सोने व रंग का मुक्त प्रयोग है, मणियों का जड़ाव और नक्काशी की सूक्ष्मता अद्भुत है। शाहजहां के स्थापत्य में मूर्ति और चित्रण-कला की विशेषताएँ अधिक हैं। ताज मूर्ति-कला की कृति ही अधिक है और दीवान खास चित्रण-कला की। औरंगजेब के सिंहासनारोहण के उपरान्त मुगल साम्राज्य के क्षय के साथ ललित-कलाओं की भी दुर्दशा होने लगी। औरंगजेब सर्वथा अरसिक धर्म प्राण-व्यक्ति था। वह ललित-कलाओं को—लालित्य मात्र को—जीवन का पतन समझता था, अतएव शुरू से ही उसने उनके खिलाफ जिहाद बोल दिया। उसने धार्मिक जोश में आकर कई मन्दिरों को, जो हिन्दू-स्थापत्य-कला के उत्कृष्ट उदाहरणस्वरूप थे, धराशायी करा दिया। उनकी मनोवृत्ति कठोर इस्लाम में सौन्दर्य के प्रति, जैसे कोई मोह ही नहीं था। वास्तु-कला के विरुद्ध यद्यपि

पुस्तकालय
स्टेशन रोड बीकानेर

उस कोई धार्मिक विद्रोह नहीं होना चाहिए था, परन्तु फिर भी उसके समय मे उल्लेख योग्य दो मसजिदे और एक मकबरा ही बन पाया। इसमे लाहौर की मसजिद अपेक्षाकृत सुन्दर है। परन्तु कला की दृष्टि से वह जामा मसजिद का जैसा कि फर्गुसन ने लिखा है, घटिया अनुकरण मात्र है। दूसरी मसजिद जीनतुन्निसा की बनवाई हुई दिल्ली में है। स्वय सम्राट और उसकी बेगम के मकबरे भी बहुत साधारण है, उनमे मुगल-कला की अधोगति स्पष्ट है। 'उनमे एक प्रकार की बनरता, रुखाई और उजाडपन सा निदर्शित होता है।' औरगजेब के उपरान्त मुगल सम्राटो के पास इतना कोष ही नही था कि वे इमारत बनवा सकते। केवल शाहआलम द्वितीय ने गुजरात मे कुछ इमारतें बनवाईं जिनमे जैन शैली की अनुकृति है। अतएव अठारहवी शताब्दी मे मुगल-कला को थोडा बहुत आश्रय दिल्ली से दूर रसिक नवाबो के दरबारो मे ही मिल पाया। परन्तु इस समय तक मौलिक प्रतिभा का इतना भयकर ह्रास हो चुका था कि लखनऊ की ये सभी इमारते निष्प्राण एव सर्वथा अनुकृत कला के ही निदर्शन मात्र रह गई हैं। इनमे किसी प्रकार का अपना भावनामय वैशिष्ट्य नही है—केवल शैलीगत विलास का पिष्टपेषण मात्र है। प्रसिद्ध कला ममज्ञ डा० स्मिथ ने इनकी कला को सर्वथा दाम्भिक और कुत्सित कहा है।

हिन्दुओ के सरक्षण मे भी यद्यपि स्थापत्य ने विशेष उन्नति नहीं की, फिर भी उनके मन्दिरो की कला इतनी निष्प्राण और हीन नही है। राजपूताना की इमारतो मे इसी समय के आम्बर स्थित जयसिंह सवाई के राजमहल और राजा सूरजमल के दीग के महल अपना महत्त्व रखते हैं। दीग के भवनो मे यद्यपि राजपूत व्यक्तित्व की गुरुता नही है परन्तु उनके अवयवो मे अलकरण का सौन्दर्य असंदिग्ध है। इस समय मुसलमानो के प्रभाववश हिन्दू राजा भी अपनी छतरियाँ और समाधियाँ बनाने लग गए थे। इस समय मे बनी हुई राजा सग्रामसिंह, सूरजमल और छत्रसाल एव उनकी रानी की छतरियाँ उल्लेख योग्य है। उन्नीसवी शताब्दी मे सिखो ने कुछ सुन्दर इमारतें बनवाई—इनमे सबसे सुन्दर अमृतसर का मन्दिर है। परन्तु उसका महत्त्व जितना प्रदर्शन के कारण है, उतना कला की दृष्टि से नहीं। उस पर राजमहल के अनुकरण की छाप ही अधिक स्पष्ट है सिखो के दृढ व्यक्तित्व की मौलिक अभिव्यक्ति बहुत कम। इस प्रकार शाहजहाँ के उपरान्त लगभग दो शताब्दियो तक स्थापत्य का इतिहास प्राय अनुदात्त और निर्जीव कलाकृतियो का अनुलेखन मात्र है। उसकी एक ही विशेषता है—निर्जीव तथा मौलिक वैशिष्ट्य हीन पिष्टपेषण, जिसमे कहीं-कहीं विलास की रमणीयता मिल जाती है।

चित्र-कला

स्थापत्य की भाँति मुग़ल चित्र-कला भी फारसी और भारतीय कला के सयोग से निर्मित है। उसमे फारसी चित्र कला की कड़ी रूप रखा, सूक्ष्म अवयवो की अलङ्कृति और नक्काशी के साथ भारतीय कला की गोलाई छाया प्रकाश का उचित प्रयोग तथा रगो की चटक का सुचार सम्मिश्रण है। चीनी चित्र-कला की विशेषता रही है रेखा, फारसी की रेखा और रग और भारतीय कला मे रगो का ही आधिपत्य रहा है।

ज्यो-ज्यो समय बीतता गया मुगल शैली मे फारसीपन की न्यूनता और भारतीयता की अधिकता होती गइ। जहाँगीर का युग मुगल चित्र-कला का स्वर्ण युग है। इसमे आकर वह पूर्णत भारतीय हो गई—विदेशी तत्त्व भारतीय तत्त्वो मे घुल मिलकर एक हो गये। परिणामस्वरूप मुगल चित्र-कला मे स्वाभाविकता, गति और सजीवता का समावेश हो गया। वह सम्राट् के अपने मनोभावो की अभिव्यक्ति का साधन भी बन गई। वास्तव मे इस सम्राट के रगीन व्यक्तित्व का सहज माध्यम चित्र ही था। पर्सी ब्राउन के शब्दो मे मुगल चित्रकारी की आत्मा जहाँगीर के साथ ही मर गई। शाहजहाँ को स्थापत्य और मणि माणिक्य से अधिक प्रेम था, चित्र कला मे उसकी विशेष रुचि नहीं थी। फलत उसकी समकालीन शैली मे मौलिक प्राणवत्ता और हार्दिकता की कमी है। यद्यपि उसमे हस्त कौशल और नक्काशी अब भी पूर्ववत बनी हुई है परन्तु उसकी रचना या सजना मे किसी प्रकार का वैचित्र्य नही पाया जाता। हाँ, अलकरण की प्रवृत्ति कुछ और भी बढ़ गइ है—स्वर्ण रग का प्रचुर प्रयोग किया गया है सभी चित्रो मे सुन्दर चित्र विचित्र फूल पत्ते, पक्षी आदि से कढ़ा हुआ हाशिया दिया गया है। कुल मिलाकर इस समय की चित्रकारी मे एक प्रकार की अतिशय परिपक्वता का भान होता है, जो अवनति की सूचना देती है।

जहाँगीर ने व्यक्तित्व के साथ सम्बन्ध स्थापित करके चित्र-कला मे जो जीवन की चेतना उत्पन्न कर दी थी, वह शाहजहा के दरबार के गम्भीर शिष्टाचार मे विलुप्त हो गइ। शाहजहाँ राजसी शिष्टाचार की मर्यादाओ मे विश्वास करता था—अतएव चित्रकारो को दरबार के आन्तरिक जीवन मे प्रविष्ट होने की आज्ञा न थी। उनका प्रिय विषय दरबार का ऐश्वर्य ही था। विभूतिमान अमीरो की सभाओ, रत्न जटित परदो जरी के आतपनो और बहुमूल्य वस्त्राभूषणो आदि के अकन मे ही वे अपनी सारी कारीगरी खर्च कर देते थे। चित्रो मे अलकरण का इतना प्राचुर्य है—रगो का इतना सूक्ष्म प्रयोग है कि

लोगों को प्राय यह भ्रम हो जाता है कि रंगों के स्थान पर इन चित्रों में मणियों के टुकड़े ही जड़ दिए गए हैं। शाहजहाँ की प्रिय अलंकरण कला मणिकुट्टिम का इन पर स्पष्ट प्रभाव है। इसके अतिरिक्त शबीह अर्थात् व्यक्ति चित्रों का भी इस युग में विशेष मान था। इन चित्रों में ज्यामिति के रचना प्रकारों तथा आलेखन की सूक्ष्मता और जकड़बन्दी है। ये चित्र प्राय व्यक्तियों की स्थिर मुद्राओं के हैं। इनकी रेखाएँ और रंग मिश्रण बड़े बारीक हैं, इनमें एक प्रकार से मूर्ति कला की ही विशेषता मिलती है। परन्तु इनमें जीवन की उष्णता का अभाव है और भाव व्यंजना क्षीण है। इसकी मुख मुद्राओं में आतरिक स्फूर्ति और अभिव्यक्ति की सजीवता नहीं है और अन्तर के चित्र न होने के कारण व्यक्तित्व अथवा चरित्र के अध्ययन में ये अधिक सहायक नहीं हो पाते। मुगल शासन के पूर्वार्ध में व्यक्ति चित्र केवल सम्राट उसके परिवार और दरबार के अमीरों के ही तैयार किए जाते थे। परन्तु साम्राज्य का विकेन्द्रीकरण होने के पश्चात राजाश्रय दुर्लभ होने लगा और उधर जनता में इन चित्रों की माँग बढ़ने लगी। परिणाम यह हुआ कि अठारहवीं शताब्दी में इनका व्यवसाय होने लगा और चित्रों के स्वतन्त्र अंकन के स्थान पर स्टेंसिल की सहायता से उनकी प्रतिकृतियाँ तैयार की जाने लगीं। यह कला के ह्रास की चरमसीमा थी। उसमें वशिष्ट्य की हानि हुई जो इस पतन काल का प्रमुख दोष है। यही बात पशु पक्षियों के चित्रों में है। मनोहर, मंसूर आदि कलाकारों द्वारा अंकित पशु पक्षी भी मुगलों के उपवन उद्यानों की शृंगार शोभा के साधन मात्र प्रतीत होते हैं। ऐसा मालूम पड़ता है मानो वे जान बूझकर चित्र खिचवाने के लिए तैयार होकर खड़े हुए हैं। मुक्त आकाश में पंख खोल कर उड़ते हुए अथवा उन्मुक्त वन विहार करते हुए पक्षियों के चित्र अप्राप्य हैं। संक्षेप में, श्री रायकृष्णदास के शब्दों में—'अब चित्रों में हद से ज्यादा रियाज महीनकारी रंगों की खूबी, तथा शान शौकत एवं अंग प्रत्यंगों की लिखाई विशेषत हस्त मुद्राओं में बड़ी सफाई और कलम में कहीं कमजोरी न रहने पर भी, दरबारी अदब कायदों की जकड़बन्दी और शाही दबदबे के कारण इन चित्रों में भाव का सर्वथा अभाव बल्कि एक प्रकार से सन्नाटा सा पाया जाता है यहाँ तक कि जी ऊबने लगता है।'[1]

औरंगजेब का राजत्व काल अन्य कलाओं की भाँति चित्र कला के भी अध पतन का काल है उसने अपने सामने बीजापुर के असर महल और अकबर के मकबरे की चित्रकारी को मिटवा दिया था। फिर भी व्यक्ति चित्रों की

---

[1] भारत की चित्र कला।

अपेक्षा उसकी भी रही। स्वयं औरंगज़ेब के ही अनेक चित्र वर्तमान हैं, जो उसकी सम्मति के बिना नहीं खिंचे होंगे। इसके अतिरिक्त वह अपने नज़रबन्द कुटुम्बियों के स्वास्थ्य के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए भी व्यक्ति-चित्रों का अंकन कराता था जिससे उनको दिए हुए पोस्त के प्याले का प्रभाव उसे नियमित रूप से मालूम होता रहे। औरंगज़ेब के उपरान्त रहा सहा मुगल वैभव भी नष्ट हो गया। उसके उत्तराधिकारियों का नैतिक और भौतिक ह्रास तत्कालीन चित्रों में व्यक्त है। दिल्ली का कोष अब कलाकारों को अपने आसपास केन्द्रित रखने में असमर्थ था। अतएव वे अवध, मुर्शिदाबाद और हैदराबाद के नवाबों के आश्रय में पहुँच गए और इस प्रकार स्थानीय प्रभावों के अनुसार मुगल शैली की दिल्ली की कलम, लखनऊ की कलम आदि कई शाखाएँ हो गईं। इस समय के चित्रों में कारीगरी, महीनकारी और सजावट के होते हुए भी मौलिकता का सर्वथा अभाव है, उसमें बस शृंगारिक विलासिता की ही प्रधानता है। अन्तःपुर के रास रंग से सम्बन्ध रखने वाले शृंगारिक चित्र सबसे ज्यादा इसी युग में अंकित किए गए। लेकिन इस समय चित्र कला इन दरबारों से बाहर उन्मुक्त वातावरण में भी काफी फल फूल रही थी। मुगल शैली की समकालीन राजस्थानी शैली अब भी लोक जीवन से प्रेरणा पाकर जीवित थी। यह सर्वथा हिन्दू शैली थी। इसका सम्बन्ध मूलतः अजन्ता की कला से ही था। मुगल शैली सर्वथा भौतिक और राजसी थी, राजस्थानी शैली का आधार आध्यात्मिक था और उसका जन-जीवन से घनिष्ठ सम्पर्क था। उसकी सृष्टि जनता ने ही अपने सुख दुःख की अभिव्यक्ति, आनन्द विनोद के निमित्त की थी परन्तु बाद में मुगल शैली से आदान प्रदान होने पर इसमें राजसी तत्त्वों का समावेश भी हो गया और जयपुर की कलम में जयपुर की दरबारी संस्कृति की ही भाँति काफी फारसीपन आ गया। राजस्थानी चित्र-कला का मुख्य विषय रागमाला थी। रागमाला की चित्रावली विभिन्न ललित कलाओं की मौलिक एकता का व्यक्त निदर्शन है। वास्तव में कलाओं की मूल आत्मा एक ही है, अभिव्यक्ति मात्र का अन्तर है। गीत ध्वनिमय चित्र है, चित्र अंकित ध्वनि। हमारे शास्त्रों में रसों और रागों के देवता और वर्ण आदि की कल्पना तो बहुत पहले से ही मिलती है। इन चित्रों में कुछ तो उसके सहारे और कुछ अनुकूल ऋतुओं का आश्रय लेकर शब्द को रेखा और रंग में चित्रित किया गया है। रागमाला के अतिरिक्त इस सम्प्रदाय के अन्य प्रिय विषय हैं—कृष्ण-लीला, नायिका-भेद और बारहमासा। कृष्ण चरित्र—विशेषकर रासलीला—का जनता में उस समय काफी

प्रचार था, परन्तु जनता की इस मनोवृत्ति में धार्मिकता नहीं थी, शृंगारिकता ही थी। राधा कृष्ण लौकिक प्रेमी प्रेमिका अथवा नायक-नायिका के प्रतीक मात्र थे। बुंदेलखण्ड में पहले केशव के छंदों को चित्रबद्ध किया गया, फिर बाद को दतिया राज्य में राजस्थानी शैली की शाखा बुंदेलखण्डी शैली में देव के 'अष्टयाम' बिहारी की सतसई और मतिराम के 'रसराज' की चित्र व्यंजना हुई। इनका मुख्य रस शृंगार ही है। शैली में आलंकारिकता की प्रधानता है और आँगों के अंकन में अतिशयोक्ति का सर्वत्र प्रयोग हुआ है। इन चित्रों में भावाभिव्यक्ति शिथिल है, पात्रों की मुख मुद्राएँ भाव शून्य हैं, परन्तु स्त्री चित्रों में आँखें रसीली हैं। जैसा कि डा० श्यामसुन्दरदास ने लिखा है ये चित्र हिन्दी साहित्य के अध्येता के लिए एक विशेष महत्त्व रखते हैं। इनकी और हिन्दी के रीति साहित्य की आत्मा एक ही है।

राजस्थानी शैली की ही समवर्ती एक दूसरी शैली भी इस युग में वर्तमान थी—कांगड़ा शैली। विदेशी कला मर्मज्ञों ने इन दोनों को राजपूत शैली की दो शाखाएँ माना है परन्तु कतिपय आधुनिक विशेषज्ञ इस वर्गीकरण से सहमत नहीं है। कांगड़ा शैली मूलतः भावात्मक शैली है। इसमें यथार्थता को भाव के आश्रित रखा गया है। अतएव इसमें उन्मुक्तता और हार्दिकता पूर्वोक्त दोनों शैलियों की अपेक्षा कहीं अधिक है। इस शैली का झुकाव रहस्यात्मकता की ओर है। इन चित्रों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है इनमें प्रायः सभी रसों और भावों की अभिव्यंजना मिलती है—'देवताओं का ध्यान, रामायण, महाभारत, भागवत, दुर्गा सप्तशती इत्यादि समस्त पौराणिक साहित्य, ऐतिहासिक गाथा, लोक कथा, केशव, बिहारी, मतिराम, सेनापति आदि हिन्दी के प्रमुख एवं अन्य साधारण कवियों की रचनाओं से लेकर जीवन की दैनिक चर्या और शबीह तक ऐसा एक भी विषय नहीं जिसे उन्होंने छोड़ा हो।'[1]

स्त्री सौंदर्य के चारु अंकन में ये कलाकार अपना जोड़ नहीं रखते। मीनाक्ष चित्रण का तो एक नवीन आदर्श ही इन्होंने प्रस्तुत किया है। रात्रि के रमणीय वातावरण में अथवा मेघाच्छन्न आकाश की छाया में प्रेमी प्रेमिका के अभिसार, अथवा थके हुए पथिकों की विनोद-वार्ता तथा जंगल के दृश्य अद्भुत हैं। इनमें छाया प्रकाश का जैसा सुन्दर प्रयोग हुआ है वैसा मुगल चित्रों में दुर्लभ है। आलोचकों ने इस शैली के विकास को भारतीय चित्र-कला का परमोत्कर्ष मानते हुए, इसकी मौलिकता अभिव्यंजना और सूक्ष्म कारीगरी की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है।

---

[1] रायकृष्णदास—'भारत की चित्र कला'

इस प्रकार रीति युग में चित्र-कला की दो प्रमुख धाराएँ थी। एक राजसी थी जो जन-जीवन में स्वाभाविक पोषण न पाकर केवल राज्याश्रय पर अवलम्बित थी। देश की राजनीतिक अधोगति के कारण यह शैली ह्रासोन्मुख थी। दूसरी जन प्रिय थी जो तत्कालीन जन समूह की ही भांति अब भी अपनी चेतना बनाए हुए थी, इसमे जीवन की ताजगी थी। इस युग के काव्य की रीतिबद्ध और रीतिमुक्त शृगारिक प्रवृत्तियाँ उपर्युक्त दोनो धाराओ के ही समानान्तर बढ रही थी।

सगीत

रीति युग मे सगीत कला की स्थिति किसी प्रकार भी सन्तोषजनक नही कही जा सकती। कला के अन्य रूपो की भाति यहा भी मौलिकता का सवथा अभाव मिलता है। शाहजहाँ तक तो फिर भी कुशल रही—स्वय शाहजहा को सगीत का परिष्कृत ज्ञान था। उसके समय म तानसेन के वशज लालखा और हिन्दू कलावन्त जगन्नाथ ने तानसेन आदि के सगीत म सूक्ष्मताओ की सृष्टि करते हुए अलकरण की श्री वद्धि की। औरगजेब का युग सगीत के चरम अपकर्ष के लिए प्रसिद्ध है। बचारा सगीत भी औरगजेबी जुल्म का शिकार हुआ। औरगजेब न दिल्ली-दरबार से सगीत का सवथा बहिष्कार कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप उसका पूणतया विकेन्द्रीकरण हो गया। कलावन्त दिल्ली से निराश होकर राजाओ और नवाबो की शरण मे जाने लगे। इस समय केवल एक ही सगीताचाय का नाम उल्लेखनीय है—वह है भावदत्त जो राणा अनूपसिह के आश्रय मे रहता था। उसने समस्त रागो को बीस ठाठो मे विभक्त करते हुए 'कनकाङ्गी' को शुद्ध मात्रा माना है। औरगजेब के उपरान्त मुहम्मदशाह रँगीले ने एक बार फिर सगीत की मृतक आत्मा म प्राण फूकने का प्रयत्न किया और दिल्ली का श्री हत दरबार अदारग और सदारग के ख्यालो से गूज उठा। इसी समय शोरी मियाँ ने टप्पा गायन प्रचलित किया "जिसमे गले से दानेदार तान निकालने की अदभुत विशेषता है।' सर सौरेन्द्र मोहन टागोर का कथन है कि इन दो प्रसिद्ध गायको के अतिरिक्त मुहम्मदशाह के समय म हिन्दू और फारसी शलियो के सम्मिश्रण से और भी कतिपय मधुर सगीत शलियो और ध्वनियो की सृष्टि हुई जिनमे से अधिकाश शृगारिक हैं। इसी शताब्दी मे श्रीनिवास ने 'रागतत्त्व विबोध' नामक एक ग्रथ लिखा। श्रीनिवास उत्तर भारत मे मध्यकालीन सगीत के सबसे अन्तिम ग्रथकार ह। दक्षिण म मराठा राजा तुलजेन्द्र भासले (स० १८१०-१८८४) ने इस कला की ओर पर्याप्त ध्यान दिया और 'सगीत सारामृतम' और 'राग लक्षणम' नाम

की दो पुस्तकें लिखीं। उसके बाद विष्णु शर्मा ने 'अभिनव रागमंजरी' ग्रन्थ में तत्कालीन हिन्दुस्तानी संगीत का विवेचन किया।

उत्तर भारत में संगीत को आश्रय देने वाले अब राजा, रईस और नवाब ही रह गए थे जो उसको विलास का एक उपकरण मानते थे। सं० १८७० के लगभग पटना के एक रईस मुहम्मद रजा ने 'नगमात आसफी' नामक संगीत की पुस्तक लिखी, जिसमें उन्होंने बिलावल को शुद्ध ठाठ मानते हुए एक नए ढंग से रागों का वर्गीकरण किया और स्पष्टतया 'राग रागिनी पुत्र' आधार को असंगत माना। इसके आसपास ही जयपुर के राजा प्रतापसिंह ने हिन्दुस्तानी संगीत पर प्रामाणिक ग्रन्थ प्रस्तुत करने की दृष्टि से अपने राज्य में एक बृहत् संगीत समारोह किया जिसके परिणामस्वरूप देश के प्रसिद्ध आचार्यों के मतों का संग्रह करते हुए 'संगीत सार' ग्रन्थ का सम्पादन हुआ। यह ग्रन्थ संकलन अवश्य अच्छा है परन्तु विषय विवेचन के विचार से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। इससे कहीं अधिक महत्त्व है राग-कल्पद्रुम का, जिसको कि संवत्सर १९०० के लगभग कृष्णानन्द व्यास ने चार खण्डों में प्रकाशित किया। इस ग्रन्थ को तत्कालीन गेय पदों का विश्वकोष समझना चाहिए।

अवध की नवाबी भी इस समय विलास में गर्क थी। अवध के अन्तिम अधिपति वाजिदअली शाह को कला विकास के सभी उपकरणों से प्रेम था। संगीत उनकी रसिक मण्डली का प्रधान अलंकरण था। वे स्वयं अच्छे संगीतकार थे। संगीत की रसीली शैली ठुमरी उन्हीं का आविष्कार है, जो कि डा० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में भारतीय संगीत प्रणाली का जघन्यतम स्त्रैण रूप है। इस प्रकार अन्य कलाओं की भाँति संगीत के क्षेत्र में भी विराट और गम्भीर तत्त्व का अभाव तथा एक प्रकार की स्त्रैण शृंगारिकता का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। रीति युग में संगीत की प्रवृत्ति भी मौलिक उद्भावना की ओर न होकर अलंकरण और रसीलेपन की ओर ही थी।

२ | रीति-काव्य का शास्त्रीय आधार

रीति-शास्त्र का आरम्भ

भारतीय आस्तिकता की जीवन की प्रत्येक अभिव्यक्ति का मौलिक सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार से अलौकिक शक्तियों से स्थापित करने का अभ्यास रहा है। प्रत्येक विद्या किसी न किसी प्रकार ब्रह्म अथवा उसके किसी रूप से उद्भूत हुई है—ऐसी उसकी आस्था रही है। राजशेखर ने 'काव्य मीमांसा' में साहित्य शास्त्र की उत्पत्ति का अत्यंत रोचक वर्णन किया है सरस्वती पुत्र काव्य पुरुष को ब्रह्मा की आज्ञा हुई कि वह तीनों लोकों में साहित्य शास्त्र के अध्ययन का प्रचार करे। निदान उसने सबसे पूर्व अपने मानस जात सत्रह शिष्यों के समक्ष इसका व्याख्यान किया और फिर इन ऋषियों ने शास्त्र को १७ अधिकरणों में विभक्त करके अपने अपने विषयों पर स्वतन्त्र रीति ग्रन्थ लिखे—

'तत्र कविरहस्य सहस्राक्ष समाम्नासीत, औक्तिकमुक्तिगर्भ, रीतिनिर्णय सुवर्णनाभ, आनुप्रासिक प्राचेतायन, यमो यमकानि, चित्र चित्रांगद, शब्दश्लेष शेष वास्तव पुलस्त्य, औपम्यमौपकायन, अतिशय पाराशर, अर्थश्लेषमुतथ्य, उभयालंकारिक कुबेर, वनोदिक कामदेव, रूपकनिरूपणीय भरत, रसाधिकारिक नन्दिकेश्वर, दोषाधिकरण धिषण, गुणौपादानिकमुपमन्यु, औपनिषदिक कुचमार इति।'[1]

विद्वानों की राय है कि यह सूची अधिक विश्वसनीय नहीं है। वैसे भी कुछ नाम तो स्पष्टतः सगति बैठाने को गढ़े गए मालूम पड़ते है परन्तु कुछ नामों का उल्लेख यत्र-तत्र अवश्य मिलता है। जैसे 'कामसूत्र' में औपनिषदिक के व्याख्याता कुचमार और 'साम्प्रयोगिक' के व्याख्याता सुवर्णनाभ के नाम आते है। 'रूपक' या 'नाट्य शास्त्र' पर भरत का ग्रन्थ तो किसी-न किसी रूप में आज भी उपलब्ध है। नन्दिकेश्वर के नाम के काम शास्त्र, गीत नृत्य और तन्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों का उल्लेख तो मिलता है परन्तु रस पर उनका कोई ग्रन्थ

[1] काव्यमीमांसा, प्रथम अध्याय

प्राप्त नही है। इस प्रकार राजशेखर का यह काव्यमय वणन रीति शास्त्र की उत्पत्ति का इतिहास जुटाने मे हमारी कोई सहायता नही करता।

वेद वेदाग

ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय ज्ञान का प्राचीनतम कोष वेद है। वैदिक ऋचाओ के रचयिता वाणी के रस स तो स्पष्टत अभिज्ञ थे ही इसम कोई सन्देह नही इसके साथ ही नृत्य गीत छन्द रचना आदि के सिद्धान्तो का सम्यक विवेचन और उपमा शब्द का प्रयोग भी वेदो म मिलता है। परन्तु साहित्य शास्त्र का निश्चित आरम्भ वेदो म ढूढना क्लिष्ट कल्पना मात्र होगी। वेदो के अतिरिक्त वेदाग सहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषद आदि भी इस विषय मे मौन है।

व्याकरण शास्त्र

भारत का व्याकरण शास्त्र जितना प्राचीन है, उतना ही पूण भी है। उसे तो वास्तव मे भाषा का दशन कहना चाहिए। व्याकरण के आदि ग्रन्थ है 'निरुक्त' और 'निघण्टु'। यास्क ने वैदिक उपमा का विवेचन करते हुए उसके कुछ भेदो का विवरण दिया है जसे भूतोपमा जिसमे उपमित उपमान बन जाता है रूपोपमा जिसमे उपमित और उपमान म रूप-साम्य होता है सिद्धोपमा जिसम उपमान सव स्वीकृत और सिद्ध होता है, रूपक की समानार्थी लुप्तोपमा या अर्थोपमा जिसम साम्य व्यक्त न होकर अव्यक्त ही होता है। पाणिनि के समय तक उपमा का स्वरूप निर्धारित हो चुका था। उन्होने उपमित उपमान, सामान्य आदि पारिभाषिक शब्दो का स्पष्ट प्रयोग किया है। पाणिनि के उपरान्त पातञ्जलि का 'महाभाष्य' भी इन रूपो की सम्यक व्याख्या करता है। वास्तव मे व्याकरण शास्त्र हमारे काव्य शास्त्र का एक प्रकार से मूलाधार है। वाणी के अलकरण के जो सिद्धान्त काव्य शास्त्र म स्थिर किए गए, उन पर व्याकरण के सिद्धान्तो का स्पष्ट प्रभाव है। भामह वामन तथा आनन्दवधन जैसे आचार्यों ने अपने ग्रन्थो म व्याकरण की स्थान स्थान पर सहायता ली है। ध्वनि का प्रसिद्ध सिद्धान्त व्याकरण के 'स्फोट सिद्धान्त स ही ग्रहण किया गया है।

दशन

व्याकरण के उपरान्त काव्य शास्त्र का दूसरा आधार दशन है। उसके कतिपय प्रमुख सिद्धान्तों का सीधा सम्बन्ध विभिन्न दाशनिक सिद्धान्तो से है। उदाहरण के लिए शब्द की तीन शक्तिया—अभिधा, लक्षणा व्यजना का सकेत न्याय शास्त्र के शब्द विवेचन म मिलता है। नयायिको के अनुसार श न

के अभिधाय से व्यक्ति, जाति और गुण तीनों का बोध हो जाता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने शब्दार्थ को गौण, भक्त, लाक्षणिक और औपचारिक आदि अर्थों में विभक्त किया है। शब्द प्रमाण के सम्बन्ध में 'न्याय' और 'मीमांसा' दोनों में शब्द और वाक्य का वर्गीकरण तथा अर्थवाद आदि का सूक्ष्म विवेचन मिलता है। वास्तव में एक प्रकार से 'न्याय' और 'मीमांसा' से ही व्याख्यात्मक आलोचना का उदभव समझना चाहिए। इसी प्रकार अभिनवगुप्त का व्यक्तिवाद 'सांख्य' के परिणामवाद से बहुत दूर नहीं है—जिसके अनुसार सृष्टि का अर्थ "उत्पादन या सृजन न होकर केवल अभिव्यक्ति ही होता है।' इससे अधिक स्पष्ट है वेदान्तियों के मोक्ष सिद्धान्त का प्रभाव। इसके अनुसार मोक्ष का आनन्द बाहर से प्राप्त नहीं होता, वह तो आत्मा का ही शुद्ध-बुद्ध रूप है जो माया का आवरण हट जाने के उपरान्त स्वतः आनन्दमय रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। परन्तु यह वास्तव में संकेत अथवा अनुमान मात्र है, इनसे काव्य शास्त्र की उत्पत्ति के विषय में कोई निश्चित सिद्धान्त स्थिर नहीं हो पाते।

काव्य शास्त्र का वास्तविक आरम्भ

निदान काव्य शास्त्र का वास्तविक आरम्भ हमें दर्शन और व्याकरण के मूल ग्रन्थों की रचना के बहुत बाद का मालूम पड़ता है। डा० सुशीलकुमार डे, डॉ० काणे आदि विद्वानों का मत है कि ईसा की पहली पाँच शताब्दियों में ही उसका जन्म माना जा सकता है। शिलालेखों की काव्यमयी प्रशस्तियाँ, अश्वघोष और भास के ग्रन्थ और कालिदास का अलंकृत काव्य आदि सभी इसी ओर संकेत करते हैं। भरत के 'नाट्य शास्त्र' का मूल रूप तो स्पष्टतः ही इसी काल की अत्यन्त आरम्भिक रचना है। इतिहासज्ञ उसका रचना-काल ईसा की पहली शताब्दी के आस पास स्थिर करते हैं। भरत ने कृशाश्व और शिलालिन के नामों का उल्लेख किया है, उधर भामह ने मेधाविन का और दण्डी ने कश्यप आदि का, परन्तु अभी तक इनके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। अतएव इनके विषय में चर्चा करना व्यर्थ है। भरत के उपरान्त काव्य और काव्य शास्त्र दोनों ही समृद्ध होने गए। काव्य शास्त्र में क्रमशः अनेक वादों और सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा हुई, जिनमें से पाँच अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध हुए—रस सम्प्रदाय, अलंकार-सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सम्प्रदाय और ध्वनि सम्प्रदाय। मान्यता तथा ऐतिहासिकता दोनों की दृष्टि से सबसे पहले रस सम्प्रदाय ही आता है।

रस-सम्प्रदाय

'रस' शब्द का अर्थ और इतिहास

रस भारतीय वाङमय के प्राचीनतम शब्दों में से है। लोक में यह शब्द

मुख्यत चार विभिन्न रूपो मे प्रचलित है—१ पदार्थों का रस अर्थात सौहित्य का रस—अम्ल, तिक्त, कषाय आदि, २ आयुर्वेद का रस, ३ साहित्य का रस, और ४ इसी से मिलता जुलता मोक्ष या भक्ति का रस। सौहित्य रस मे रस से तात्पर्य है पदार्थ (वनस्पति आदि) को निचोडकर निकाले हुए द्रव का, जिसमे किसी-न किसी प्रकार का स्वाद होता है। इस अर्थ के ये दोनो अग (अ) निचोड, और (आ) स्वादु-गुण आगे चलकर स्वतन्त्र हो जाते है। आयुर्वेद म रस से तात्पर्य है पारद का। साहित्य म रस से तात्पर्य है काव्यानन्द का, और मोक्ष रस का अर्थ है ब्रह्मानन्द। व्याकरण के अनुसार रस की व्युत्पत्ति है—'रस्यते इति रस' जो आस्वादित किया जाय वह रस है—'रस आस्वादनस्नेहयो'। व्याकरण मे इसकी व्युत्पत्ति और भी है 'सरते इति रस' अर्थात जो वहे वह रस है। यहा रस मे द्रवत्व और वहन का गुण मुख्य माना गया है। इस प्रकार व्युत्पत्ति के अनुसार भी रस म दो विशेषताए मिलती है—द्रवत्व और स्वाद।

रस के उपर्युक्त सभी अर्थो मे स्वाद-आनन्द का गुण तो स्पष्टत सर्व सामान्य है ही, चाहे उसको ग्रहण करने का माध्यम जिह्वा हो या सूक्ष्मेन्द्रिय, मस्तिष्क हो या आत्मा। द्रवत्व और सार अथवा प्राण-तत्त्व का आशय भी प्राय किसी न किसी रूप मे निहित है ही। रस का पहला अर्थ वेदो मे स्पष्ट रूप से मिलता है—'दधान कलशे रसम्'[१]। यहाँ रस से तात्पर्य सोम रस का है। अन्य वनस्पतियो के द्रव दुग्ध और जल के अर्थ म भी इसका प्रयोग है। इसके अतिरिक्त स्वाद या गन्ध के लिए भी 'रस' शब्द वेदो मे आता है। 'शतपथ ब्राह्मण मे निश्चित रूप मे रस का प्रयोग मधु के अर्थ मे हुआ है—'रसो व मधु'। आगे चलकर उपनिषद् के प्रसिद्ध सूत्र 'रसो व स'। 'रस ह्येवाय लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'[२] मे रस का अत्यन्त स्पष्ट और गम्भीर अर्थ मिलता है। यहा पर प्राण तत्त्व (सार) और स्वाद दोनो अर्थो का सम्मिश्रण हो जाता है—परमात्मा रस है और रस अर्थात चिदानन्द रूप है—'रस सार चिदानन्दप्रकाश', जिसको प्राप्त करके आत्मा परमानन्द का उपभोग करता है। इसी रस से ऋक यजु और साम की ऋचाओ की सृष्टि हुई

ऋचामेव तद्रसेन
यजुषामेव तद्रसेन
साम्नामेव तद्रसेन [३]

१ ऋग्वेद ९,६३,१३
२ तैत्तिरीय उपनिषद् २,७ १
३ छान्दोग्य उपनिषद् ४,१७,४ ६

पण्डितराज जगन्नाथ ने रस का काव्य का प्राणत्व सिद्ध करने मे श्रुति के इसी वाक्य का प्रमाण दिया है। वास्तव मे, जैसा कि डा० सक्सेना का मत है यह बहुत सम्भव है कि साहित्य के आदि आचार्यों ने रस का स्वरूप स्थिर करने म इस वाक्य से प्रेरणा प्राप्त की हो और इसी के आधार पर काव्यानन्द के अथ मे रस का प्रयोग किया हो—'जिस प्रकार योगी उस चिदानन्द प्रकाश का अपनी आत्मा मे सहज साक्षात्कार करके, पूणत तन्मय होकर ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है, उसी प्रकार सहृदय भी अपने मानस म नाटक या काव्य के सौन्दय का सहज साक्षात्कार करके काव्यानन्द का अनुभव करता है। परन्तु इसके द्वारा रस का कोई निश्चित शास्त्रीय रूप स्थिर हो सका था, यह मानना अनुचित होगा। आगे चलकर कठ आदि उपनिषदो म और उनके [illegible] पर कालान्तर म दशनो म रस रसना की एन्द्रिय अनुभूति के पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होता है।

येन रूप रस [illegible] एतेनव विजानाति।[1]

गन्धरसरूपस्पशशब्दा।[2]

शब्द श्रवणेन्द्रिय का अनुभव है, स्पश त्वचा का, [illegible] जिह्वा का, और गन्ध नासिका का। वैशेषिक दशन' म २४ [illegible] इस रूप का विवेचन मिलता है। 'न्याय का भी [illegible]

रसस्तु रसनाग्राह्यो मधुरा[illegible]।
सहकारी रसज्ञाया नित्यत्वा[illegible]।

'रामायण' और 'महाभारत' म [illegible] परिवतन अथवा विकास नही हुआ। [illegible] (अमृत) पेय आदि साधारण अर्थों में [illegible] उसका प्रयाग नया है, पर वह [illegible] वह जल, सुरा, पेय, गध आदि [illegible] केवल दो एक प्रयोग थोड़े [illegible]

इस प्रकार हम देखते हैं कि [illegible] लगभग अन्य सभी मुख्य [illegible] रस का पारिभाषिक [illegible]।

---

1 कठोपनिषद् [illegible]
2 न्यायदर्शन १,१,१४
3 [illegible]

रसो गन्धरसे स्वादे तिक्तादौ विषरागयो ,
शृगारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदे। (इति विश्व)

—म से 'शृगारादौ' का अन्तर्भाव अभी रस म नहीं हो पाया था, परन्तु उसके लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी, इसम सन्देह नहीं। वैसे तो 'वाल्मीकि रामायण' के साधारणत प्रचलित सस्करणो म बाल-काण्ड के चतुथ सग मे नवरस का अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख है

पाठये गेये च मधुर प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम
जातिभि सप्तभिर्बद्धम, तन्त्रीलयसमन्वितम ॥८॥
रसै शृगार-करुण हास्य रौद्र भयानक
वीरादिभिश्च सयुक्त काव्यमेतदगायताम ॥९॥

परन्तु बाल काण्ड का यह अश निश्चय ही प्रक्षिप्त है। एकाध अत्यन्त विश्वासी विद्वान को छोडकर प्राय सभी इस विषय म एकमत हैं।

इसके उपरान्त भरतमुनि का नाट्य शास्त्र है, जिसम हम रस का पारिभाषिक और शास्त्रीय रूप स्पष्ट मिलता है। भरत म रस का इतना सम्यक् एव विस्तृत विवेचन मिलना ही इस बात का प्रमाण है और भरत ने भी अपने पूववर्ती आचार्यों के आर्या तथा अनुष्टुप् छन्द देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उनसे पूव ही उसका शास्त्रीय और पारिभाषिक रूप, और शायद सख्या आदि भी अवश्य स्थिर हो गई थी। भरत का मुख्य प्रतिपाद्य रूपक है काव्य नहीं। उन्होने रस का विवेचन काव्य के आश्रय से नहीं किया, वरन (नाटक के) प्रेक्षक की भाव प्रतिक्रियाओ का विश्लेषण करने के निमित्त ही किया है।

रस-सम्प्रदाय का सक्षिप्त इतिहास

यो तो जनश्रुति नन्दिकेश्वर को प्रथम रसाचाय मानती है, परन्तु राजशेखर का साक्ष्य होने पर भी उनके आचायत्व का कोई विशेष प्रमाण नहीं मिलता। भरत न भी प्रधानता तो वास्तव म रूपक को ही दी है। रस को तो उन्होने, जैसा कि मैं आरम्भ मे ही कह चुका हूँ, वाचिक अभिनय का अग मानकर प्रतिपादित किया है। परन्तु फिर भी आज रस के विषय मे भरत का ही सिद्धान्त सवमान्य है अतएव उनको आद्याचाय मानना अनिवाय ही है। भरत के उपरान्त रस सिद्धान्त अधिक लोकप्रिय नहीं रहा। परवर्ती आचार्यों ने उसे नाटक के उपयुक्त ही मानते हुए अलकार और रीति आदि को काव्य की आत्मा माना।

रस सिद्धान्त का पहला विरोधी आचाय था भामह, जिसने अलकार सम्प्रदाय की स्थापना की। उसने अलकार को काव्य की आत्मा मानते हुए

रस का रसवत्, ऊर्जस्विन् और प्रेयस अलंकारों में अन्तर्भाव कर दिया। भामह के अनुयायी हुए दण्डी, उद्भट और रुद्रट, जो सभी अलंकारवादी थे। दण्डी ने भी रस को उपर्युक्त अलंकारों के अन्तर्गत माना, परन्तु फिर भी उसकी दृष्टि अधिक उदार थी। पद-लालित्य रसिक दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में विभिन्न रसों का विस्तृत विवेचन किया है। वामन ने अलंकार को छोड़कर रीति को काव्य की आत्मा माना। वास्तव में वामन का दृष्टिकोण दण्डी से अधिक भिन्न नहीं था, रस को उसने कान्तिगुण का मूल तत्त्व मानते हुए[1] उसकी प्रतिष्ठा और भी बढ़ा दी। उदभट का योग केवल अभावात्मक ही न होकर भावात्मक भी था। रस को माना तो उसने भी रसवत् आदि अलंकारों के अन्तर्गत ही परन्तु उसका विवेचन अधिक सूक्ष्म और विस्तृत रूप में किया। उसने संहिता नामक अलंकार की उदभावना की, जिसमें भाव और रस की शान्ति का भी अन्तर्भाव हो सकता था। रसवत, ऊर्जस्विन् और प्रेयस अलंकारों का भी विवेचन उसका भामह और दण्डी से पृथक् है। इसके अतिरिक्त कुछ पण्डितों का मत है कि उदभट ने ही शान्त रस की उद्भावना की थी। उदभट पर भामह और भरत दोनों का प्रभाव था। उद्भट के उपरान्त रुद्रट का नाम आता है। रुद्रट वास्तव में अलंकार, रीति तथा ध्वनि रस-सम्प्रदायों के संगम-स्थल पर खड़ा हुआ है। उसने रसों को स्पष्ट रूप से अलंकारों की दासता से मुक्त करते हुए विरोधी सिद्धान्तों का समन्वित करने का स्तुत्य प्रयत्न किया। उसने असंदिग्ध शब्दों में यह घोषित कर दिया कि रस के सम्यक् परिपाक के बिना कविता नीरस और निस्पंद होगी।

एते रसा रसवतो रमयन्ति पुंस
सम्यग्विभज्य रचिताश्चतुरेण चारु।
यस्मादिमाननधिगम्य न सवरम्य
काव्य विधातुमलमत्र तदाद्रियेत॥

—काव्यालंकार १५।२१

सबसे पूर्व उसने ही विप्रलम्भ को पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुण इन चार भागों में विभक्त किया।

यह सब होते हुए भी भामह से लेकर रुद्रट तक अलंकार और रीति का ही प्राधान्य रहा, और रस का स्थान गौण रहा। काव्य सिद्धान्त में इनकी प्रभुता वास्तव में इतनी अधिक हो गई थी कि उस समय के रस सिद्ध कवियों

[1] दीप्तिरसत्वं कान्तिः। का० सू० वृ० ३। १।१५

को इनके विरुद्ध शस्त्र ग्रहण करने पड़े। कालिदास और भवभूति दोनों ने अपने समकालीन आलोचकों का तीव्र प्रतिवाद करते हुए सशक्त शब्दों में रस की प्रतिष्ठा की है। कालिदास ने स्पष्टतः स्वीकार किया कि

त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते।
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्॥

—मालविकाग्निमित्र १।४

भवभूति तो वास्तव में रसावतार थे—उन्होंने काव्य में चित्त की विद्रुति को प्रमाण मानते हुए करुण रस में अन्य सभी रसों का अन्तर्भाव किया। परन्तु कालिदास और भवभूति के अतिरिक्त अन्य कवियों ने रस की मान्यता स्वीकार करते हुए भी सामयिक सिद्धान्तों के आगे सिर झुका दिया था। उदाहरण के लिए, बाण जैसे रसज्ञ कवि को भी आलंकारिक चमत्कार और प्रहेलिका आदि से खिलवाड़ करना पड़ा था।

इन विषमताओं का समाधान अन्त में आनन्दवर्धन ने ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना द्वारा किया। ध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर एक ओर उसने अलंकारवादियों की बाह्य साधना का अन्त कर दिया और दूसरी ओर रस-सिद्धान्त की अव्याप्ति का परिहार भी कर दिया। रस सिद्धान्त के अनुसार तो जहाँ विभाव, अनुभाव, संचारी आदि के संयोग से रस निष्पत्ति न हो वहाँ काव्यत्व की स्थिति मानना भी सम्भव नहीं है। परन्तु ध्वनिकार ने ध्वनि के रस ध्वनि, वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि से तीन विभाग कर दिए। उन्होंने यद्यपि मुख्य रस ध्वनि को ही माना तथापि वस्तु और अलंकार को भी काव्य में उचित स्थान दिया। इस प्रकार ध्वनि सिद्धान्त को रस सिद्धान्त का विरोधी न मानकर उसका व्यापक रूप ही मानना उचित है। 'ध्वन्यालोक' के उपरान्त अभिनवगुप्त के 'लोचन' की रचना हुई। अभिनव ने अपनी अंतर्दर्शी प्रतिभा के बल पर रस स्थिति से सम्बन्ध रखने वाली अनेक भ्रान्तियों का समाधान किया और इस प्रकार रस के महत्त्व की पूर्ण प्रतिष्ठा की। उन्होंने भट्टनायक के भावकत्व और भोजकत्व का प्रामाणिक रूप से निषेध करते हुए व्यंजना की मान्यता स्थापित की और यह स्पष्ट किया कि रस के आस्वादन में व्यंजना किस प्रकार सभी व्यवधानों का नाश करती है तथा कटु भावों को भी मधुर रस की स्थिति तक पहुँचा देती है। अभिनवगुप्त साधुवृत्ति के दार्शनिक विद्वान् थे, अतएव स्वभावतः शान्त रस के प्रति उनका विशेष अनुराग था। उन्होंने शान्त रस का रसत्व ही सिद्ध नहीं किया वरन् अन्य सभी रसों का उसके अन्तर्गत समाहार करते हुए उसे प्रधान रस भी घोषित किया। वास्तव में

सस्कृत साहित्य शास्त्र म अभिनवगुप्त का स्थान अद्वितीय है, रस की मनोवैज्ञानिक व्याख्या का पूण श्रेय उन्ही को है।

अभिनवगुप्त के सिद्धान्ता का महिमभट्ट न विराध किया। उन्हान व्यजना की स्थिति का निषेध किया और श्री शकुक के आधार पर रस का अनुमित माना। परन्तु उनका मत लोकप्रिय नही हुआ। रस का सबस प्रबल पृष्ठ पोषण राजा भाज ने किया। उन्हान केवल एक रस—शृगार—की ही स्थिति स्वीकार की, अन्य रसो का पृथक् अस्तित्व ही उनको मान्य नही था। उनका सिद्धान्त था कि अहकार ही विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी आदि के द्वारा उद्दीप्त होकर रसत्व का प्राप्त हो जाता है। यह अहवृत्ति, यह अभिमान ही शृगार है, यही रसत्व का प्राप्त हो जाता है। रति आदि भाव रस मे कभी परिणत नही हो सकने, वे तो केवल रस की श्री-वृद्धि करते है, जिस प्रकार कि प्रकाश की किरणें अग्नि की द्युति वृद्धि करती है। भोज के 'शृगार प्रकाश' मे मौलिकता तो अधिक नही है परन्तु अपनी व्यापकता और विस्तार के बल पर वह सस्कृत रस शास्त्र का विश्व कोष कहा जा सकता है।

भोजराज् क उपरान्त मम्मट और विश्वनाथ का नाम रस-सम्प्रदाय म विशेषतया उल्लखनीय है। मम्मट न सभी प्रचलित सिद्धान्ता का स्वच्छ रीति स समाहार करत हुए ध्वनि और रस का समुचित व्याख्यान और प्रचार किया। रस परम्परा म विश्वनाथ का याग मम्मट की भी अपेक्षा अधिक है, उन्हान रस का ध्वनि से भी अधिक महत्त्व दिया। ध्वनिकार के विरुद्ध उन्हाने ध्वनि का रस के अन्तगत ग्रहण किया। ध्वनिकार ने रस का महत्त्व दत हुए भी उस काव्य के लिए सवथा अनिवाय नही माना था, उसकी अनुपस्थिति मे भी मध्यम या कम-से कम अधम काव्य की स्थिति सम्भव थी। परन्तु विश्वनाथ ने मध्यम आदि काव्या मे भी काव्यत्व रस के कारण ही माना। उनम भी रस का क्षीण-से क्षीण आभास अवश्य हाना चाहिए अन्यथा वे कान्य नही मान जा सकते। इसी सिद्धान्त के अनुसार उन्हाने चित्र का काव्य की कोटि स बहिष्कृत कर दिया। परन्तु रस म उन्हान चित्त की विद्रुति की अपेक्षा चित्त के विस्तार को अधिक महत्त्व दिया और चमत्कार को उसका मूल तत्त्व माना, इसीलिए रसो मे अदभुत का उन्होने प्रधानता दी। विश्वनाथ के इस रस सिद्धान्त का उग्र विरोध अठारहवी शताब्दी म पण्डितराज जगन्नाथ ने किया और फिर से ध्वनिकार की ही स्थापना को सवमान्य घोपित किया। विश्वनाथ के 'वाक्य रसात्मक कान्यम्' को सकीण कहकर उन्होन काव्य को 'रमणीयाथ प्रतिपादक शब्द' माना, और इस प्रकार भाव के अतिरिक्त कल्पना और बुद्धि-तत्त्वा को

भी काव्य म उचित स्थान दिया। पण्डितराज सस्कृत के दिग्गज विद्वानो म से थे। उनके उपरान्त सस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा मे कोई उल्लेखनीय नाम नही मिलता। बस, फिर रस-परम्परा भी, जो उनके पूर्व से ही नायिका भेद की सकुचित सरणि पर चलने लग गई थी, हिन्दी के रीति-कवियो के हाथ म आ गई।

रस की परिभाषा

रस की व्याख्या करने वाला भरत का प्रसिद्ध सूत्र इस प्रकार है—'विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्ति', अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के सयोग स रस की निष्पत्ति होती है। विभाव का अर्थ है रति, करुणा आदि भावो के कारण। ये दो प्रकार के होते है—१ आलम्बन, जिनके आधार मे भाव जागृत होते है जैसे—नायक-नायिका आदि, और २ उद्दीपन, जो भावो को उद्दीप्त अर्थात उत्तेजित करते हैं, उदाहरण के लिए वसन्त, उपवन, चाँदनी आदि। अनुभाव भावानुभूति के अनुक्रम हैं अर्थात उसके व्यक्त प्रभाव है जैसे—भ्रूक्षेप, स्मिति कटाक्ष आदि। व्यभिचारी अस्थायी भाव हैं, जो क्षण क्षण मे उठ गिर कर स्थायी भाव की पुष्टि करते है। इस प्रकार विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावो का सयुक्त रूप म साक्षात्कार करके दर्शक के मन म एक उत्कट आनन्दमयी भावना का सचार होता है, यही रस या काव्यानन्द है। एक स्पष्ट उदाहरण लीजिए— कुशल नट और नटी दुष्यन्त और शकुन्तला के रूप म हमारे सम्मुख उपस्थित होते है। ये पहले पहल तपोवन के रमणीय कुजो म मिलते हैं (विभाव)। दोनो एक-दूसरे के आह्लादकर सौन्दर्य को देखकर चकित हो जाते हैं और तृषित उत्सुक नेत्रो से एक दूसरे की ओर देखते है—अनिच्छापूर्वक जाती हुई शकुन्तला चोरी चोरी एक दृष्टि पात करती है (अनुभाव)। वियोग म कभी उत्कण्ठा और कभी निराशा स व्यग्र होकर वे एक दूसरे से मिलने को आतुर हो उठते है (व्यभिचारी भाव)। सौभाग्य स शकुन्तला, सखी की सहायता से, पत्र द्वारा दुष्यन्त पर अपना प्रेम प्रकट करने का अवसर प्राप्त करती है। इतने ही म दुष्यन्त वहा आकर सहसा उपस्थित हो जाता है और इस प्रकार दोनो प्रेमियो का सयोग हो जाता है। जब यह सब (विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव आदि का सयोग) कविता, सगीत, रग-वैभव आदि की सहायता से, जिनको भरत ने, नाटयधर्मी कहा है मच पर प्रदर्शित किया जाता है तो प्रेक्षक के हृदय मे वासना रूप से स्थित रति स्थायी भाव जागृत होकर उस चरमसीमा तक उद्दीप्त हो जाता है जहा प्रेक्षक व्यक्ति और देश-काल का अन्तर भूलकर

सामने उपस्थित घटना म उन्मत्त हो जाता है, और चरमावस्था को प्राप्त उसका यह भाव उसे एक आनन्दमयी चेतना में विभोर कर देता है। यही आनन्दमयी चेतना रस है।"[1] और स्पष्ट शब्दों म, आलम्बन विभाव से उद्बुद्ध, उद्दीपन से उद्दीप्त, व्यभिचारियों से परिपुष्ट तथा अनुभावों म परिव्यक्त सहृदय का स्थायी भाव ही रस-दशा को प्राप्त होता है

विभावेनानुभावेन व्यक्त सचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादि स्थायिभाव सचेतसाम ॥ साहित्यदपण ३।१

आगे चलकर रसमग्न करने की क्षमता रूपक और काव्य तक ही सीमित नहीं रही—स्फुट रचनाओं म भी मान ली गई—और फिर इसकी परिधि गीत, नृत्य तथा चित्र आदि कलाओं तक विस्तृत हो गई। सगीत, नृत्य आदि के द्वारा भी रस के प्रदशन और अभिव्यक्ति आदि की चर्चा परवर्ती शास्त्रों म मिलती है। रूपक या काव्य ही नहीं स्फुट छन्द, यहाँ तक कि गीत, नत्य और चित्र भी सहृदय को रस विभोर कर सकते हैं। इस प्रकार पारिभाषिक शब्दों के फेर म न पडकर यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि रस एक आनन्दमयी चेतना है। परन्तु यह जागृत किसमें होती है और किस प्रकार की होती है अर्थात काव्य से उदबुद्ध इस आनन्दमयी चेतना म और अन्य निमित्तों से उदबुद्ध आनन्दमयी चेतना म क्या अन्तर है, ये प्रश्न उठते है। दूसरे शब्दों म रस की मूल स्थिति किसमें है ? और रस का स्वरूप क्या है ?

रस की स्थिति

रस की स्थिति के विषय म संस्कृत के आचार्यों म बहुत मतभेद है। भरत ने रस की व्याख्या म एक सूत्र देकर छोड दिया है—'विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्ति', अर्थात विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के सयोग से रस की निष्पत्ति होती है। निष्पत्ति से उनका क्या तात्पय है और वह किस प्रकार होती है इसका विवेचन उन्होंने सम्यक रूप से नहीं किया। इस प्रसग म उन्होंने आगे भी कुछ वाक्य दिये हैं जैसे **'यथा गुडादिभिद्रव्यव्यञ्जनरौषधिभिश्च षडरसा निवर्त्यन्ते, एव नानाभावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्व माप्नुवन्ति'**। अर्थात् जिस प्रकार गुड आदि द्रव्यों, व्यजनों और ओषधियों से षड्रस बनते हैं इसी प्रकार नाना भावों से घिरे हुए स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त होते हैं प्रमाणकरसयायात् चव्यमाणो रसो मत'। परन्तु इससे भी समस्या कुछ सुलझ नहीं सकी, इसलिए परवर्ती आचार्यों ने अपने-अपने ढग

---

[1] शकरन के एक उद्धरण का अनुवाद। देखिए Some Aspects of Literary Criticism in Sanskrit, 1929, पृष्ठ १५

से उसकी पृथक् पृथक् व्याख्या की। यहां स्पष्ट ही साहित्य का एक अत्यन्त मौलिक प्रश्न उठता है—रस का मूल भोक्ता कौन है ? कवि या नाटककार, अथवा श्रोता या दर्शक, या फिर काव्य या नाटक के पात्र अथवा इन काव्यगत पात्रों के मूल रूप ऐतिहासिक अथवा पौराणिक स्त्री पुरुष और या फिर नट नटी ? इनमें श्रोता या दर्शक का तो किसी-न किसी रूप में इसका भोक्ता होना सर्वथा स्पष्ट है और सभी ने उसका स्वीकार भी किया है। किस रूप में स्वीकार किया है यह दूसरी बात रही। वास्तव में यह बात इतनी प्रत्यक्ष और स्वतःसिद्ध है कि इसका निषेध धोखे से भी नहीं किया जा सकता। नाटक या काव्य का अस्तित्व क्यों है ? देखने या पढ़ने के लिए। कोई उसे क्यों देखे, पढ़े या सुने ? आनन्द के लिए। यह भी कोई प्रश्न उठा बैठे कि किसके आनन्द के लिए तो आप प्रश्नकर्ता के दुराग्रह अथवा उसकी 'मूर्खता' पर कुछ झुंझलाकर यही उत्तर देंगे स्पष्टतः अपने आनन्द के लिए। जो कोई कुछ भी करता है, अपने आनन्द के लिए ही करता है। दूसरों के आनन्द के लिए भी वह जो कुछ करता है उसकी प्रेरणा उसके आनन्द में ही निहित रहती है।

भरत सूत्र के सबसे पहले जिस व्याख्याकार का मत अभी तक प्राप्त हो सका है, वह लोल्लट है। वह सामाजिक के आनन्द का तो अस्वीकृत नहीं करता, परन्तु उसकी धारणा है कि रस का वास्तविक आस्वादन नायक-नायिका ही करते हैं—सामाजिक के हृदय में तो नट नटी के माध्यम से उनके रस की प्रतीति करके रस उत्पन्न होता है। अर्थात् नायक नायिका का रस है वास्तविक, सामाजिक का है प्रतीतिजन्य अपरागत (Second hand) और इस प्रतीति के माध्यम हैं नट नटी। सामाजिक नट नटी में नायक नायिका का आरोप करके (उनके नाट्य-कौशल के कारण उन्हीं को नायक-नायिका समझता हुआ) नाटक का आनन्द लेता है। यहां दो तीन प्रश्न उठते हैं—१ नायक नायिका (दुष्यन्त शकुन्तला) से क्या आशय है ? मूल ऐतिहासिक दुष्यन्त और शकुन्तला या नाटक में वर्णित दुष्यन्त और शकुन्तला ? २ नट नटी का इनसे क्या सम्बन्ध है ? तीसरे के रस की प्रतीति से सामाजिक के हृदय में रस कैसे उत्पन्न होता है ? भट्ट लोल्लट अपना आशय शायद इस प्रकार स्पष्ट करते एक दिन अचानक ही दुष्यन्त और शकुन्तला तपोवन की रम्य कुञ्ज स्थली में मिलते हैं और एक दूसरे के अपूर्व सौन्दर्य को देखकर मुग्ध चकित हो जाते हैं। दोनों के हृदय में स्थित वासना रूप रति जागृत हो जाती है। दुष्यन्त शकुन्तला की ओर विस्फारित नेत्रों से देखता रह जाता है, शकुन्तला

भी चोरी चोरी सलज्ज दृष्टि उसकी ओर डालती है। ये अनुभाव उनकी जागृत रति को व्यक्त करते हैं। दोनों के मन में अनेक तर्क वितर्क उठने लगते हैं, और वे वियोगजन्य ताप में जलने लगते हैं। इन सचारियों से रति परिपुष्ट होती है। अन्त में दुष्यन्त स्वय ही वहाँ प्रकट हो जाता है। इस प्रकार दोनों का सयोग होने पर रति भाव पूर्णत उद्बुद्ध होकर शृगार रस में परिणत हो जाता है और वे उसका आनन्द लेते हैं। अतएव रस का वास्तविक अनुभव करते हैं नायक-नायिका। अब प्रश्न यह उठता है कि नायक नायिका से लोल्लट का आशय कौन-से दुष्यन्त शकुन्तला से है? ऐतिहासिक महाराज दुष्यन्त और मेनकात्मजा कण्वपाल्या शकुन्तला से, जिनका वर्णन हम 'महाभारत' में पढ़ते हैं और जिसे कालिदास ने भी उसी रूप में पढ़ा होगा? अथवा कालिदास द्वारा अकित दुष्यन्त और शकुन्तला से, जो महाभारत के दुष्यन्त शकुन्तला से निश्चय ही कुछ अशों में तो भिन्न हैं ही? भट्ट लोल्लट का अभिप्राय निस्सन्देह ही ऐतिहासिक दुष्यन्त शकुन्तला से है। या यों कहें कि वह इतिहास के दुष्यन्त शकुन्तला और 'शाकुन्तलम्' के दुष्यन्त शकुन्तला में कोई मूलगत अन्तर नहीं मानता। एक तो शायद इसलिए कि नियम के अनुसार नाटक के नायक नायिका प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति ही होते हैं, दूसरे इसलिए भी कि उस समय तक काव्यगत पात्रों में कवि के आत्माश को स्वीकार करने की क्षमता आलोचक को प्राप्त नहीं हो सकी थी। वैसे भी भारतीय साहित्य शास्त्र की बाह्यार्थ निरूपिणी दृष्टि कवि के आत्माश की उपेक्षा ही करती आई है। थोड़ी गहराई में जाकर देखा जाय तो 'महाभारत' के दुष्यन्त शकुन्तला भी मूल ऐतिहासिक दुष्यन्त शकुन्तला नहीं हैं। खैर, यह एक लम्बा प्रसग है जिसका विवेचन आगे किया जायगा। यहाँ केवल यही निर्देश करना है कि भट्ट लोल्लट रस की स्थिति ऐतिहासिक दुष्यन्त शकुन्तला में ही मानता है। कवि-अकित दुष्यन्त-शकुन्तला को या तो वह उनसे एकरूप करके देखता है या फिर, जैसा कि कुछ विद्वानों का मत है, नट-नटी की भाँति माध्यम मात्र मानता है। प्रेक्षक सामने नट नटी को उनका अभिनय करते हुए देखता है, और उनकी कुशलता एव सजीवता के कारण उनमें ही दुष्यन्त शकुन्तला का आरोप कर लेता है—अर्थात उन्हीं को दुष्यन्त शकुन्तला समझ लेता है। रगमच पर उनको रस ग्रहण करते हुए देखकर वह यही समझता है कि वास्तविक दुष्यन्त शकुन्तला रस ग्रहण कर रहे हैं और उनकी रस-दशा को देखकर स्वय भी रसानुभव करने लगता है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि दूसरे के रस को देखकर प्रेक्षक रसानुभव कैसे कर सकता है? बाद के व्याख्याकारों

न इनके साथ ही कई मनोवैज्ञानिक और नैतिक आक्षेप किये है—एक-दूसरे को इस दशा मे देखना, विशेषकर यदि रस शृगार है अनुचित है, अनैतिक है। अनुचित या अनैतिक कर्म करने की शास्त्र कैसे आज्ञा दे सकता है ? और उसमे आनन्द कैसे सम्भव है ? मनोविज्ञान की दृष्टि से भी तो यह आवश्यक नही कि दूसरे के प्रेम मिलन का आनन्द देखकर हमे प्रेम का आनन्द ही प्राप्त हो—ईर्ष्या हो सकती है, लज्जा, विरक्ति और क्रोध तक हो सकता है।

भट्ट लोल्लट को उत्तर देने का अवसर नही मिला, वह इन आक्षेपो का क्या उत्तर देता, यह नही कहा जा सकता। पर आज का समालोचक बडी सरलता से कह सकता है कि हम मानव-सुलभ सहानुभूति के द्वारा दूसरे के आनन्द से आनन्दित हो सकते है। आनन्द के अतिरिक्त जो भी प्रतिक्रिया होगी, वह भी सहानुभूति के ही द्वारा होगी और आनन्द का ही कोई रूप होगी, चाहे विपरीत रूप ही क्यो न हो। दुष्यन्त और शकुन्तला का सयोग सुख देखकर यदि हमे ईर्ष्या होती है तो यह नही समझना चाहिए कि हमारी ईर्ष्या की भावना उनके सयोग सुख से सर्वथा भिन्न है। यह भी उसी का रूप है, पात्र और परिस्थिति के वैपरीत्य से उसका रूप मात्र बदल गया है और यह रूप परिवर्तन तो किसी भी दशा मे सम्भव है।

सक्षेप मे भट्ट लोल्लट कृत विवेचन की शक्ति और सीमाएँ इस प्रकार है

शक्ति—१ उसने रसास्वादन के मूल तत्त्व सहानुभूति की ओर सफल सकेत किया है। २ उसने ऐतिहासिक व्यक्तियो मे रस की स्थिति मानकर सौन्दर्य या रस को विषयगत माना है, और इस प्रकार काव्य विषय की महत्ता का प्रतिपादन किया है। यह सिद्धान्त आत्यन्तिक रूप से सत्य न होते हुए भी सर्वथा अनर्गल नही है। हमारे हृदय मे कुछ विषय अन्य विषयो की अपेक्षा रस की उदबुद्धि अधिक मात्रा मे तथा अधिक सरलता से कर सकते है, और इसका कारण यह है कि इन विषयो पर हमारे अपने, हमारी जाति के, हमारे देश के और आगे बढकर सम्पूर्ण मानवता के परम्परागत सस्कारो के पत्त चढे हुए है। इसलिए विशेष कठिनाई के बिना हमारी वासना, जो स्वय सस्कार रूप है जागृत की जा सकती है। यह रसानुभूति अपेक्षाकृत कही अधिक गहरी भी होती है क्योकि इसमे परिस्थिति विशेष के ही नही वरन् युग युग के, और उधर हमारे एक व्यक्ति के ही नही वरन समग्र जाति के सस्कार एक साथ जग उठते है। हिटलर पर स्टालिन की विजय का चित्र देखकर साधारणत हमारे आज के (राजनीति से प्राप्त) सस्कार ही उद्बुद्ध होते है, परन्तु रावण पर राम की विजय का वर्णन पढकर युग-युग तक

प्रसरित सस्कारो का जाल जाग्रत हो उठता है। स्पष्टत यह दूसरी प्रकार पहले की अपेक्षा कही अधिक गहरी और सबल होगी। सचारियो से स्थायी भावो को अथवा एक रस मे दूसरे को अधिक महत्त्व देने का भी यही कारण है। आलोचना के इस समृद्ध युग म भी हम मथ्यू आनल्ड और आचाय शुक्ल को इसी सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए पाते ह। आज का पदाथवादी दृष्टिकोण भी हीगेल के आदशवाद का (अर्थात् ज्ञान से पदाथ की उत्पत्ति का) निषेध करके वस्तु या पदाथ मे ही ज्ञान की उत्पत्ति मानता हुआ बहुत कुछ इसी वस्तुपरक सिद्धान्त की ओर लौट आया है। हमारे यहा मीमासको का दृष्टिकोण यही था और लोल्लट मीमासक ही तो था। ३ उसने नट मे भी रसानुभूति की स्थिति को स्वीकार किया है। वास्तव म नट के लिए भी रसानुभूति अनिवाय है उसके बिना सफल अभिनय नही हो सकता। कोई भी कला बिना अनुभूति के सफल कैसे हो सकती है, वह कोई यन्त्र परिचालित काम तो है नही। नट का लक्ष्य चाहे धन हो या और भी कुछ, परन्तु अभिनय के समय उसे तन्मय, रस मग्न होना ही पडेगा, नही तो अभिनय सफल नही हो सकता।

सीमा—१ वह ऐतिहासिक व्यक्तियो और कवि द्वारा अकित उनके प्रतिरूप व्यक्तियो का अन्तर स्पष्ट नही कर पाया और न यह स्पष्ट कर पाया है कि ऐतिहासिक नायक-नायिका की काव्य म कोई स्वतन्त्र सत्ता नही है। काव्य म तो उनके प्रतिरूप नायक-नायिका की ही सत्ता है, जो कवि की अपनी अनुभूति के मूत रूप मात्र हैं। अतएव नायक नायिका मे रस की स्थिति मानना वास्तव मे कोई अथ नही रखता। इस प्रकार भट्ट लोल्लट वास्तव म यह नही जान सका कि जिस प्रकार दशक नाटक देखने के समय रसानुभव करता है और नट अभिनय के समय, इसी प्रकार कवि स्वय भी नाटक या काव्य का सृजन करते समय रस का अनुभव करता है। उसके विवेचन की सबसे बडी सीमा यही थी, क्योकि इस प्रकार कल्पित पात्र और कल्पित घटना वाले उपन्यास, कथा, आख्यायिका आदि के रसास्वादन का कोई समाधान नही रह जाता।

२ उसने सामाजिक के रसास्वादन को सवथा गौण स्थान दिया है। भरत सूत्र का दूसरा व्याख्याता हुआ, शकुक। उसने भट्ट लोल्लट का विरोध करते हुए निष्पत्ति का अथ अनुमिति किया। अर्थात उसने प्रतिपादन किया कि रस उत्पन्न नही होता, अनुमित होता है। रस की मूल स्थिति वह भी ऐतिहासिक नायक नायिका म ही मानता है। प्रेक्षक उसको (आरोप के द्वारा) प्रत्यक्ष देखकर प्राप्त नही करता, वरन अनुमान से प्राप्त करता है। उसका आक्षेप है

कि दूसरे को रस दशा में देखकर पहले तो प्रेक्षक का रस प्रतीति ही नहीं हो सकती और यदि कुछ उत्तेजना होती भी है, तो यह आवश्यक नहीं कि वह अनुकूल ही हो, प्रतिकूल न हो। उदाहरण के लिए, नायक-नायिका की प्रत्यक्ष शृंगार रसानुभूति सहृदय में संकोच, ईर्ष्या, विरक्ति आदि की भावना भी तो जागृत कर सकती है। परन्तु इस आक्षेप के द्वारा शंकुक एक प्रकार से सहानुभूति-तत्त्व का निषेध करता है जो मनोविज्ञान की दृष्टि से असंगत है। उसका दूसरा आक्षेप यह है कि जिन नायक नायिका को हमने कभी देखा नहीं, उनके रसास्वादन की अनुभूति हमको कैसे हो सकती है? आज का आलोचक उसका भी उत्तर देने में असमर्थ नहीं है। वह कहेगा 'कल्पना के द्वारा'। पहले नाटककार स्वयं सहानुभूति और कल्पना के द्वारा (जिसमें कि ये दोनों गुण असाधारण मात्रा में मिलते हैं) अपने को नायक अथवा नायिका से तद्रूप कर देता है, और फिर उसकी सहायता से प्रेक्षक भी इन्हीं दो गुणों के द्वारा उसका साक्षात्कार कर लेता है। परन्तु शंकुक इस समाधान तक नहीं पहुँच सका और इसका भी कारण यही था कि संस्कृत के आचार्य रसास्वादन में कवि के व्यक्तित्व को लगभग छोड़कर चले हैं। निदान शंकुक ने रस की प्रतीति न मानकर, 'चित्र तुरग न्याय' के आधार पर इसका अनुमान ही सम्भव माना है। शंकुक का सिद्धान्त कुछ इस प्रकार है भरत ने स्थायी भाव और रस में कोई अन्तर नहीं माना। स्थायी भाव की मूल अनुभूति तो ऐतिहासिक नायक नायिका को ही होती है। परन्तु रंगमंच पर नट-नटी इतना सफल अभिनय करते हैं कि प्रेक्षक चित्र-तुरग न्याय से उन्हीं को नायक नायिका समझ लेता है और उनके अभिनय का आनन्द लेता हुआ मूल भाव का अनुमान करता है। यह अनुमित (स्थायी) भाव ही रस है और वास्तविक (स्थायी) भाव से भिन्न न होकर उसका अनुकृत रूप ही है। अतएव मूल भाव का अनुभव करते हैं नायक नायिका, उसके अनुकृत भाव (रस) का अनुमान द्वारा अनुभव करते हैं प्रेक्षक, और इस अनुमान का माध्यम है नट नटी, जिनका अभिनय सौन्दर्य (अपूर्व वस्तु सौन्दर्य) इस अनुमान को सम्भव बनाता है। परन्तु मनोविज्ञान की दृष्टि से अनुमान द्वारा रसानुभूति की बात मिथ्या है लोक अनुभव के विरुद्ध है। अनुमान बुद्धि की क्रिया है मन की नहीं अनुमान से ज्ञान होता है अनुभूति नहीं। किसी प्रणयी युग्म को एकान्त उपवन गृह की ओर जाते हुए देखकर हमको अनुमान के द्वारा तो केवल यह ज्ञान ही होता है कि वे प्रणयानुभव ही करेंगे, या कर रहे होंगे। इसके आगे यदि हमें भी वैसी उत्तेजना होती है तो वह इसलिए नहीं होती कि हमने उसका अनुमान लगा लिया है, वरन इसलिए कि हमने एक कदम और आगे

बढ़कर कल्पना और सहानुभूति के द्वारा अपने को उस स्थिति में डालकर उनके प्रणयानन्द का मनसा साक्षात्कार कर लिया है। शंकुक ने वास्तव में रसास्वादन के विवेचन में विशेष योग नहीं दिया। भट्ट लोल्लट की सीधी बात को उसने और उलझा दिया है और सहानुभूति-तत्त्व का निषेध करके अनुमान के सिद्धान्त द्वारा उलटा भ्रम पैदा कर दिया है। उसकी देन बस एक है। वह यह कि नट नटी के अभिनय-कौशल का आनन्द भी रसानुभव में महत्त्वपूर्ण योग देता है इस तथ्य का उसने असंदिग्ध शब्दों में निर्देश किया है। अप्रत्यक्ष रूप से उसका योग यह है कि उसने रस सिद्धान्त को पूर्णत वस्तुपरक स्थिति से हटाकर व्यक्तिपरक स्थिति की ओर एक पग आगे बढ़ाया।

इस समस्या को भट्टनायक ने बहुत कुछ सुलझाया है। लोल्लट, शंकुक और इधर ध्वनिकार के मतों का खण्डन करते हुए उसने लिखा है कि रस का न तो ज्ञान होता है और न उत्पत्ति, और न अभिव्यक्ति। उसने दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये हैं, एक तो यह कि यदि रस दूसरे के भाव के साक्षात्कार अथवा ज्ञान से उत्पन्न होता है तो शोक से शोक की उत्पत्ति होनी चाहिए न कि आनन्द या रस की। और शोक प्राप्ति के लिए कोई क्या नाटक देखेगा या काव्य पढ़ेगा? दूसरे, अगर सहृदय के हृदय में ही रस स्थित रहता है और विभाव अनुभाव तथा संचारी के संयोग से अभिव्यक्त हो जाता है, तो प्रश्न यह उठता है कि एक का भाव अर्थात् नायक का व्यक्तिगत भाव, दूसरे के अर्थात प्रेक्षक के वैसे ही व्यक्तिगत भाव को कैसे अभिव्यक्त कर सकता है? फिर रति, शोक आदि की अभिव्यक्ति सम्भव भी हो सके, परन्तु समुद्र लंघन जैसे असाधारण भावों की अभिव्यक्ति साधारण पाठक में कैसे हो सकती है? किन्तु यह प्रश्न मौलिक होते हुए भी अकाट्य नहीं है। पहले प्रश्न का उत्तर आज का आलोचक यह देगा कि एक तो प्रेक्षक या पाठक को शोक का प्रत्यक्ष ज्ञान या साक्षात्कार नहीं होता केवल मनसा (कल्पना द्वारा) साक्षात्कार होता है और मानसिक रूप धारण करने में कटु-से कटु अनुभव भी क्रमशः अपनी कटुता खो देता है। स्मृति इसका एक साधारण प्रमाण है। कटु-से-कटु स्मृति में भी कटुता की क्षति और एक प्रकार के अपनेपन की उद्भूति हो जाती है। इसके अतिरिक्त कवि या नाटककार का अपना सृजन, अनुभव या सहजानुभूति और स्पष्ट शब्दों में अनुभूति की सफलता का आनन्द, भी तो इस शोक को अपने रंग में रँगकर हमारे सामने उपस्थित करता है। कवि का अनुभव दूसरे के शोक का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है, उस शोक के सफल भावन या अनुभव है जो स्वभावत आनन्दमय होता है। प्रेक्षक या पाठक का कवि

के इस सफल (आनन्दमय) भावन की अनुभूति होती है, अतएव उसका अनुभव भी आनन्द रूप ही होता है चाहे नाटक का विषय सुखात्मक हो या दु खात्मक। यह समाधान उस समय प्राप्त नही हो सका, और इसका कारण भी यही था कि संस्कृत के आचार्यों ने कवि के व्यक्तित्व को लगभग छोड ही दिया था।

भट्टनायक के दूसरे प्रश्न का उत्तर भी सरल है। पहले तो काव्यगत 'भाव सामान्यत असाधारण नही हो सकता, क्योकि कोई भी अनुभाव 'भाव' सत्ता को तभी प्राप्त कर सकता है जब कवि को स्वय उसकी सहजानुभूति हो गई हो। और कवि के लिए जब उसकी अनुभूति सम्भव है तो प्रेक्षक या पाठक के लिए भी सर्वथा सम्भव ही होनी चाहिए, क्योकि कवि की प्रतिभा कितनी ही लोकोत्तर अथवा असाधारण क्यो न हो, उसके मन की स्थिति तो साधारण ही होती है। और यदि ऐसा नही है, यदि कवि अलौकिक रहस्य द्रष्टा है या विक्षिप्त है तो न तो वह अपने अनुभव को प्रेषणीय बना सकता है और न पाठक ही उस असाधारण अनुभव की सहजानुभूति कर सकता है। उसकी कृति फिर काव्य की परिधि से बाहर पडेगी। इस प्रकार काव्यगत किसी भी भाव या अनुभूति की स्थिति प्रेक्षक या पाठक मे असम्भव नही मानी जा सकती। हनुमान के समुद्र लघन का उत्साह सर्वथा अलौकिक या असामान्य, असाधारण या विशिष्ट नही है। साधारण उत्साह से मूलत वह भिन्न नही है। एक शब्द म (जैसा कि बाद मे अभिनवगुप्त ने कहा भी) काव्यगत कोई 'भाव' विशिष्ट नही होता, साधारणीकृत होता है और सहृदय म उसकी स्थिति सर्वथा स्वाभाविक है।

पर भट्टनायक ने इन शकाओ का समाधान दूसरे प्रकार से किया। उसने रस की स्थिति न तो नायक नायिका म मानी न नट नटी मे। रस की स्थिति उसने सीधी सहृदय म मानी। भट्टनायक के अनुसार काव्य म तीन शक्तिया निसर्ग सिद्ध है (१) अभिधा, (२) भावकत्व (३) भोजकत्व। अभिधा वह शक्ति है, जिसके द्वारा पाठक या प्रेक्षक काव्य के शब्दार्थ को ग्रहण करता है, यह प्रत्येक शब्द रूप ज्ञान म होता है। दूसरी शक्ति है भावकत्व, जिसके द्वारा उसे उस अर्थ का भावन होता है। भावन होने पर भाव की व्यक्तिकता का नाश होकर साधारणीकरण हो जाता है और भाव विशिष्ट न रहकर साधारण बन जाता है। उदाहरण के लिए दुष्यन्त की शकुन्तला के प्रति रति, दुष्यन्त का शकुन्तला के प्रति भाव नही रह जाता न नट का नटी के प्रति न प्रेक्षक का अपनी प्रेमिका के प्रति। वह पुरुष का स्त्री के प्रति सहज साधारण रति भाव ही रह जाता है। इस प्रकार भावकत्व के द्वारा नायक नायिका

नट-नटी, प्रेक्षक और उसकी प्रेमिका, सभी का वैयक्तिक तत्त्व अन्तर्हित हो जाता है, और शुद्ध साधारणीकृत अनुभव रह जाता है। ऐसा होने से आप-से आप रजोगुण और तमोगुण का लोप होकर सतोगुण का आविर्भाव हो जाता है और प्रेक्षक या पाठक आनन्द का उपभोग करता है। इस प्रकार रस की अभिव्यक्ति नही, भुक्ति होती है।

भट्टनायक संस्कृत के बडे मेधावी आलोचकों म से है। उसके विवेचन से रस शास्त्र अत्यन्त समृद्ध-समुन्नत हुआ, इसमे सन्देह नही। उसने अभिनव से पूव रस को विषयगत न मानकर विषयीगत माना। उसका साधारणीकरण का सिद्धान्त काव्य शास्त्र के लिए अमर वरदान सिद्ध हुआ, जिसके बिना रस की समस्या सुलझ ही नही सकती थी।

साधारणीकरण

साधारणीकरण का अथ है काव्य के भावन द्वारा पाठक या श्रोता का भाव की 'सामान्य' भूमि पर पहुँच जाना—दुष्यन्त की शकुन्तला के प्रति रति का भावन करते हुए भाव की उस अवस्था पर पहुँच जाना जहा यह रति शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त की रति न रहकर पुरुष की स्त्री के प्रति साधारण रति मात्र रह जाती है। जो कोई भी शाकुन्तलम के इस दृश्य को देखता है या पढता है वही उसम अपने हृदय म स्थित रति का अनुभव करता है। यह किस प्रकार सम्भव होता है? इसका विवेचन करते हुए आचाय शुक्ल लिखते है—'जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप म नही लाया जाता कि वह सामान्यत सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमे रसोदबोधन की पूण शक्ति नही आती। (विषय का) इसी रूप मे लाया जाना हमारे यहा साधारणीकरण कहलाता है।'[1] इस प्रकार साधारणीकरण से शुक्लजी का आशय आलम्बन का साधारणीकरण है।

"तात्पय यह है कि आलम्बन रूप मे प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण, सबके भावो का आलम्बन हो जाता है।"[2] इसका अनुवर्ती परिणाम स्वभावत यह होता है कि पाठक का अपना तादात्म्य आश्रय के साथ हो जाता है। "साधारणीकरण के प्रतिपादन म पुराने आचार्यों ने श्रोता (या पाठक) और आश्रय (भाव व्यजना करने वाले पात्र) के तादात्म्य की अवस्था का ही विचार किया है।"[3]

---

[1] 'चिन्तामणि', साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद

[2] वही

[3] वही

इसका सकेत विश्वनाथ म मिलता है। परन्तु यह भट्टनायक और अभिनव गुप्त का मत नही है। उन दोना ने शब्द भेद से स्थायी भाव तथा विभावादि सभी का साधारणीकरण माना है। केवल विभाव का साधारणीकरण और तदनुसार आश्रय के साथ तादात्म्य उनका मान्य नहीं है। उन्हाने स्पष्ट कहा है कि शकुन्तला, सीता आदि पूज्य व्यक्तिया म सहृदय के लिए रति भावना करना अनुचित होगा। इसीलिए सहृदय न आलम्बन म प्रेम करता है और न आश्रय से तादात्म्य क्याकि उनका यह प्रेम अपना व्यक्तिगत प्रेम नहीं होता—'न ममेति न परस्येति'। आगे चलकर शुक्लजी कहते हैं कि "कभी-कभी एसा होता है कि पाठक या श्राता की मनावृत्ति या सस्कार के कारण वर्णित व्यक्ति विशेष के स्थान पर कल्पना म उसी के समान धर्म वाली काई मूर्ति विशेष आ जाती है। जैसे यदि किसी पाठक या श्राता का किसी सुन्दरी से प्रेम है तो शृगार रस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह रहकर आलम्बन रूप मे उसकी प्रेयसी की मूर्ति ही उसके सामने आयगी।"[1] भट्टनायक और अभिनवगुप्त इसका भी निषेध करते हैं कि हम दुष्यन्त के स्थान पर अपने का और शकुन्तला के स्थान पर अपनी प्रेयसी को देखने लगते हैं, क्याकि एक तो अपनी रति का प्रकाशन लज्जास्पद है, दूसरे यह भी सम्भव है कि हमारा किसी व्यक्ति विशेष से प्रेम ही न हो। उस समय शुक्लजी कहते हैं कि हमारे सामने किसी कल्पित सुन्दरी का चित्र आयगा परन्तु किसी कल्पित सुन्दरी का चित्र आना व्यक्तिगत रति का नहीं, साधारण रति का रूप है। दूसरे, यदि भाव मधुर न होकर कटु है (जैसे राम का रावण पर क्रोध देखकर मेरा भी अपना शत्रु के प्रति क्रोध जागृत हो जाता है) तो मेरा यह अनुभव प्रत्यक्ष होने के कारण कटु ही होगा। रस इसे नहीं कह सकते। वास्तव म यह सब कुछ होता तो साधारणीकरण की आवश्यकता ही क्या होती?

अब प्रश्न यह उठता है कि साधारणीकरण किसका होता है? 'मानस' म पुष्पवाटिका के प्रसग को पढते हुए मुझे तीन व्यक्तियो की चेतना है—अपनी (सहृदय की), राम (आश्रय) की और सीता (आलम्बन) की। इनके अतिरिक्त एक अव्यक्त व्यक्तित्व और है—कवि का। मेरे (सहृदय के) व्यक्तिगत आलम्बन का भी एक अव्यक्त व्यक्तित्व हो सकता है। परन्तु यह चूंकि सभी दशाओ मे सम्भव नहीं है, इसलिए इसे छोड देते हैं। साधारणीकरण की सम्भावना दो की ही हो सकती है (क्योकि म तो साधारणीकृत रूप

---

[1] वही

का भोक्ता हूँ)—१ आश्रय की, और २ आलम्बन की। क्या साधारणीकरण आश्रय का होता है ? अर्थात क्या राम का व्यक्तित्व सभी सहृदयों का व्यक्तित्व हो जाता है—और स्पष्ट शब्दों मे, क्या सभी सहृदय अपने को राम समझकर रति का अनुभव करते हैं ? नहीं। यहाँ शायद आश्रय का व्यक्तित्व प्रेय होने के कारण और भाव मधुर होने के कारण आपको 'हाँ' कहने का लोभ हो जाय। परन्तु जहाँ आश्रय अप्रिय है और भाव कटु है वहाँ इसकी सम्भावना कैसे हो सकती है ? उदाहरण के लिए, आश्रय रावण है और वह सीता के प्रति क्रोध प्रदर्शित कर रहा है। वास्तव मे आश्रय तो घृणित, क्रूर नीच, आपके व्यक्तित्व के ठीक विपरीत भी हो सकता है आप उसके साथ कहाँ तक तादात्म्य करते फिरेंगे ? अच्छा आश्रय को छोडिए। साधारणीकरण नायक का होता है 'नायकस्य कवे श्रोतु समानोऽनुभवस्तत'।[1] इसमे क्या आपत्ति है ? आपत्ति स्पष्ट है। संस्कृत काव्य का नायक, ऐसे गुणो से विभूषित होता था कि उसके साथ तादात्म्य करना प्रत्येक सहृदय का सहज और स्पृहणीय था, परन्तु आज तो काव्य पर यह प्रतिबन्ध नही है। आज अनेक प्रथम श्रेणी के उपन्यासो मे नायक का रूप उक्त आदर्श के बिलकुल विपरीत मिलता है जिसके साथ तादात्म्य आपके लिए न सहज होगा, न स्पृहणीय। उदाहरण के लिए, एक साम्यवादी उपन्यासकार किसी हृदयहीन पूँजीपति को नायक के रूप मे हमारे सामने लाकर पूँजीवाद के प्रति अपनी सम्पूर्ण घृणा को उसके व्यक्तित्व मे पुञ्जीभूत कर देता है। उपन्यास व्यक्ति प्रधान है क्योंकि उसका उद्देश्य पूँजीवाद की मूल चेतना व्यक्तिवाद के प्रति घृणा जगाना है। नायक असदिग्ध रूप मे वही घृणित व्यक्ति है। परन्तु क्या आप उससे तादात्म्य कर सकेंगे ? यदि ऐसा कर सकेंगे तो यह उपन्यासकार की घोर विफलता होगी। इस प्रकार मूलत नायक का भी साधारणीकरण नही होता। अब रह जाता है आलम्बन का प्रश्न। क्या आलम्बन का साधारणीकरण होता है ? अर्थात पुष्प-वाटिका के प्रसग में जिस सीता के प्रति राम की रति का अकुर प्रस्फुटित हुआ उसके प्रति क्या प्रत्येक सहृदय की भी रति जागृत हो जाती है। क्या राम की प्रिया विश्वप्रिया बन जाती है ? हमारा आस्तिक आचार्य (भट्टनायक आदि) 'शान्त पाप, शान्त पाप' कह उठता है, और उसने स्पष्ट शब्दो मे तिरस्कार भी किया है। परन्तु क्या ऐसा होता नही ? क्या पुष्प-वाटिका की भी सीता हमारी माता ही बनी रहती है। अगर माता ही बनी

---

[1] भट्टतौत

रहती है तो यह कहना मिथ्या है कि हम अमिश्रित शृगार रस का अनुभव कर रहे हैं। हम उसे जब तक प्रेयसी के रूप मे नही देखेंगे शृगार रस की दशा मे दूर रहगे। और इसमे कोई अनौचित्य नही है, क्योकि यह सीता उस वास्तविक सीता से जिसम हम मातृबुद्धि रखते ह सवथा स्वतन्त्र है, जब तक कि कवि की प्रेरक अनुभूति मे ही मातृ भावना का मिश्रण न रहा हो। पर ऐसी दशा मे जैसा कि तुलसी के शृगार-चित्रो से स्पष्ट है हमे अमिश्रित शृगार नही मिलता। हम काव्य की सीता मे प्रेम करते है और काव्य की यह आलम्बन रूप सीता कोई व्यक्ति नही है जिसमे हमको किसी प्रकार का सकोच करने की आवश्यकता हो वह कवि की मानसी सृष्टि है अर्थात कवि की अपनी अनुभूति का प्रतीक है। उसके द्वारा कवि ने अपनी अनुभूति को हमारे प्रति सवेद्य बनाया है। बस इसलिए जिसे हम आलम्बन कहते हैं वह वास्तव मे कवि की अपनी अनुभूति का सवेद्य रूप है। उसके साधारणीकरण का अथ है कवि की अनुभूति का साधारणीकरण, जो भट्टनायक और अभिनव गुप्त का प्रतिपाद्य है। अतएव निष्कष यह निकला कि साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है अर्थात जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति को इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदया म समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली म हम कहते है कि उसमे साधारणीकरण की शक्ति वतमान है। अनुभूति सभी म होती है सभी व्यक्ति उसे यत्किंचित व्यक्त भी कर लेते है परन्तु साधारणीकरण करने की शक्ति सब म नही होती। इसीलिए तो अनुभूति और अभिव्यक्ति के होते हुए भी सब कवि नही होते। कवि वह होता है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सके, दूसरे शब्दो म 'जिसे लोक-हृदय की पहचान हो।' यहा आकर ये सभी बाधाएँ आप दूर हो जाती है कि किसी आश्रय का व्यक्तित्व हमारे विपरीत है या कोई नायक हमारे घृणा और क्रोध का विषय है, अथवा किसी आलम्बन के प्रति हमारा भाव विशेष अनुचित है। आश्रय रूप रावण यदि कही राम की भत्सना करता है तो क्या हुआ? हमारी रसानुभूति म कोई बाधा नही आती क्योकि हमारे अन्तर मे तो वही अनुभूति जागगी जो कवि न इस प्रतीक द्वारा व्यक्त की है। माइकेल को रावण से सहानुभूति है इसलिए 'मेघनाद वध' का यह प्रसग हमारे हृदय म रावण के लिए सहानुभूति और राम के प्रति तुच्छ भाव जाग्रत करेगा। तुलसी को यदि राम के प्रति भक्ति और रावण के प्रति घृणा है तो यह प्रसग उसी के अनुकूल हमारे लिए रावण को उपहास्य या तुच्छ भाव या घृणा का विषय बनाकर राम के प्रति हमारी भक्ति जाग्रत करेगा। हमको रस दोनो ही

अवस्थाओं म आयगा। इसी प्रकार यदि साम्यवादी लेखक के उपन्यास का पूँजीपति नायक अपनी कुत्साओं म जघन्य है, तो हुआ करे, हम उससे तादात्म्य थोडा ही स्थापित करते ह। हम (हमारी अनुभूति) लेखक (की अनुभूति) से तादात्म्य स्थापित करत है, अतएव हम लेखक की तरह ही उसकी जघन्यता के प्रति अपनी घणा और क्राध जागृत करके उपन्यास का रस लेग। ठीक इसी तरह यदि सीता मे हमारी परम्परागत पूज्य बुद्धि है तो हो। यह सीता नही है, यह तो कवि की अनुभूति का प्रतीक ह। तुलसी को यदि उसके प्रति अमिश्रित रति की अनुभूति न होकर श्रद्धा मिश्रित रति की अनुभूति होती ह तो हमको भी वैसी ही हागी। हम राम स तादात्म्य न करके तुलसी से ही तादात्म्य कर पायेंगे। ऐसी दशा म हमका रसानुभूति ता होगी पर अमिश्रित शृगार की नही। इसके विपरीत, कुमार सम्भव या रीतिकालीन राधा कृष्ण प्रेम प्रसगो को पढकर यदि हमे अमिश्रित शृगार की अनुभूति हाती है तो उसका कारण यही है कि तुलसी के विपरीत कालिदास या रीति युग के कवि की तदविषयक अनुभूति अमिश्रित रति की ही अनुभूति थी। उसम कोई मानसिक ग्रथि (Complex) नही थी। यह सीधा सत्य ह जिसे एक ओर साधारणीकरण के आविष्कारक भट्टनायक और अभिनवगुप्त भारत की अव्यक्तिगत काव्य परम्परा के कारण, दूसरी ओर आधुनिक आलोचना में उसके सबस प्रबल पृष्ठपोषक शुक्लजी अपनी वस्तुपरक दृष्टि के कारण स्पष्ट रूप म व्यक्त नही कर पाए।

अगर आप ऊब न गए हो ता आइए एक और आवश्यक प्रश्न का समाधान कर लिया जाय। साधारणीकरण कवि के लिए किस प्रकार सम्भव होता है? वह किस प्रकार अपनी अनुभूति का साधारणीकरण करता है? स्वदेश विदेश के पण्डितो ने इसके दो उत्तर दिय है—१ साधारणीकरण भाषा का धम है, २ साधारणीकरण का मूलाधार मानव-सुलभ सहानुभूति है, जो सभी मनुष्यो के हृदय म एकतार अनुस्यूत ह।

पहले उत्तर म भट्टनायक और अभिनवगुप्त की ध्वनि है। भट्टनायक काव्य (काव्यमय शब्द) मे ही एक ऐसी 'भावकत्व' शक्ति मानते हैं जिससे कि भाव का आप से आप साधारणीकरण हो जाता है। अभिनवगुप्त शब्द म भावकत्व की कल्पना को निराधार मानते हुए शब्द की सवप्रधान शक्ति व्यजना मे साधारणीकरण की सामथ्य मानते ह। विदेश के पण्डित भी भाषा का एस ज्ञान और भाव प्रतीको का समूह मानत है जो उन विशेष ज्ञान-खण्डो और भावो को समान रूप से सबकी चेतना म जगा सकें। ज्ञान और भाव वास्तव

म एक दूसरे क विपरीत न होकर चेतना के दो सस्थान है ज्ञान पहला सस्थान है, भाव दूसरा । कभी तो एसा हाता है कि कोई प्रतीक विशेष, हमारी चेतना म किसी वस्तु का ज्ञान मात्र ही जगाकर रह जाता है, और कभी ज्ञान के आगे उसका 'भावन' भी करा देता है। भाषा के ये ही दो प्रयोग हैं। एक वह जिसमे प्रतीक केवल ज्ञान जगाते ह, दूसरा वह जिसमे भाव भी जगाते है। पहला प्रयोग हम सभा साधारणत व्यवहार म लाते हैं, दूसरा केवल भाव दीप्त क्षणो मे जब हमारे अपने भाव प्रतीको पर आरुढ होकर उहे इतना भावमय बना देते है कि उनम सुनने वाला के हृदया मे भी समान भाव उदबुद्ध करने की शक्ति आ जाती है। तात्पय तो यह है कि शब्दा का भावोद्दीपन करन की शक्ति मूलत हमारे भावा से ही प्राप्त होती है। अब यदि आप पूछें कि एक व्यक्ति का भाव दूसरा के हृदयो मे समान भाव कैसे उत्पन्न कर देता है तो इसका उत्तर यही है कि मूलत सम्पूण मानवता एक चेतना से चैतन्य है। मानव मानव के हृदय मे (भारतीय दशन तो चराचर को भी अपनी परिधि म समेट लेता ह) चेतना का ऐसा एक तार अनुस्यूत है जा एक स्थान पर भी स्पश पाकर समग्रन झकृत हा जाता है। आपका चाहे इस कथन मे रहस्यवाद की गध आए, परन्तु मनोविज्ञान, शरीर शास्त्र और अध्यात्म अभी इसस आग नही बढ पाए है।

अतएव साधारणीकरण का कारण है भाषा का भावमय प्रयोग। भाषा का भावमय प्रयाग प्रयोक्ता की अपनी भाव शक्ति पर निभर रहता ह, और प्रयोक्ता के भावा की सवेदन शक्ति का आधार है मानव सुलभ सहानुभूति।

भाव शक्ति थोडी बहुत सभी मे हाती है। इसलिए साधारणीकरण की भी शक्ति थाडी बहुत सभी मे होती है अयथा जीवन की स्थिति ही सम्भव नही। परन्तु साधारणीकरण की विशेष शक्ति उसी व्यक्ति म होगी जिसकी भाव शक्ति विशेष रूप से समृद्ध हा, जिसकी अनुभूतियाँ विशेष रुप से सजग हा। ऐसा ही व्यक्ति भाषा का भावमय प्रयोग कर सकता है, अर्थात् अपने समृद्ध भावा के वल पर वह उनके प्रतीका को सहज ही ऐसी शक्ति प्रदान कर सकता है कि व दूसरा के हृदयो मे भी समान भाव जगा सकें। एसा ही व्यक्ति कवि है।

इतना हात हुए भी भट्टनायक का सिद्धात सवथा निर्भ्रात नही है। उसकी सबसे बडी भ्राति है काव्य शद म भावकत्व और भोजकत्व नामक विशिष्ट शक्तियो की कल्पना जो पूणत निराधार है। व्याकरण, मीमासा आदि किसी म भी इनका सकेत नही मिलता।

इस त्रुटि का सशोधन अभिनवगुप्त ने किया, जो 'भरत-सूत्र का चौथा

व्याख्याकार था। उसने इस समस्या को बडे अच्छे ढग से सुलझा दिया। उसका सिद्धान्त इस प्रकार है—मानव-आत्मा शाश्वत है। सभी आत्माओ मे, विशेषकर सहृदयो की आत्माओ मे, स्वभाव से ही सासारिक अनुभव, पूर्वजन्म अथवा पठन पाठन आदि के फलस्वरूप कुछ मूलगत वासनाएँ सस्कार रूप मे स्थित रहती है। ये कामनाएँ ही पारिभाषिक शब्दावली मे स्थायी भाव कहलाती है। विभाव, अनुभाव और सचारी के कुशल प्रदर्शन से ये गुप्त वासनाएँ या स्थायी भाव ही उदबुद्ध होकर रस रूप मे परिणत हो जाते है अर्थात उस अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं जहाँ एक आनन्दमयी चेतना के रूप मे उसका अनुभव होता है। यहाँ आकर भाव की वैयक्तिकता नष्ट हो जाती है। वह मेरा या दूसरे का न रहकर साधारण भाव मात्र रह जाता है और इस प्रकार वह सर्वग्राह्य बनकर एक साथ इतना तीव्र हो जाता है कि उसका भावत्व भी नष्ट हो जाता है। केवल एक आनन्दमयी चेतना रह जाती है। कालिदास ने इसी की ओर स्पष्ट सकेत किया है

रम्याणि वीक्ष्य मधुराश्चनिशम्य शब्दान
पर्युत्सुकीभवति यत सुखितोऽपि जन्तु ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥[१]

अर्थात रम्य दृश्यो को देखकर या मधुर शब्दो को सुनकर यदि कोई सुखी व्यक्ति भी उन्मना हो उठता है तो इसका कारण यही समझना चाहिए कि उसे अपने पूर्व के जन्मो के स्नेह सम्बन्धो की, जो उसके अचेतन मन मे स्थिर (स्थायी) भावो के रूप मे स्थित है, अनायास ही सुधि आ रही है।

कालिदास के छन्द मे 'भावस्थिराणि' तो स्पष्टत स्थायी भाव है ही और सुधि आने का तात्पर्य है अचेतन मन से चेतन मन मे आ जाना—ठीक वही जो अभिनवगुप्त की अभिव्यक्ति का तात्पर्य है। इस समय चित्त की एकाग्रता के कारण तमोगुण और रजोगुण के ऊपर सतोगुण का प्राधान्य रहता है और आत्मा का स्वप्रकाश या स्वाभाविक आनन्द झलकने लगता है।[२] इस प्रकार रस की न तो उत्पत्ति होती है और न अनुमिति, और न भुक्ति, उसकी केवल अभिव्यक्ति होती है। रस बाहर से प्राप्त नही होता, सहृदय की अपनी आत्मा मे से आविर्भूत होता है। वह वस्तुगत या विषयगत न होकर सर्वथा विषयीगत है। अभिनव वास्तव मे आभासवादी वेदान्ती है, जो वस्तु की स्थिति न

१ 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' ५।२
२ देखिए 'नवरस', गुलाबराय

साकार करके निराकार ब्रह्म की ही सत्ता का स्वीकार करता है। विश्व में हीगेल, ह्यूम आदि दार्शनिकों का भी यही सिद्धान्त है। ये भी सौन्दर्य को विषयीगत मानते हैं विषयगत नहीं।

अभिनवगुप्त का सिद्धान्त भट्टनायक से सर्वथा भिन्न नहीं है। भट्टनायक के साधारणीकरण को उसने ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया है। यह सिद्धान्त भी कि काव्यास्वाद के समय तमोगुण और रजोगुण के ऊपर सतोगुण का प्राधान्य हो जाता है उसने बिना संशोधन के स्वीकार कर लिया है। अन्तर केवल यह है कि अभिनवगुप्त भावकत्व और भोजकत्व को निराधार घोषित करता हुआ उनके स्थान पर व्यंजना और ध्वनि की सत्ता का स्वीकार करता है। भट्टनायक का मत है कि काव्य की प्रकृति ही ऐसी है कि सहृदय का पहले इसका अर्थ ग्रहण, फिर भावन अर्थात् निर्विशेष रूप से चिन्तन, और उसके उपरान्त तुरन्त ही आनन्द प्राप्ति सहज में ही हो जाती है। परन्तु अभिनव यह मानता है कि रस की स्थिति सहृदय की आत्मा में ही है, काव्य उसकी अभिव्यक्ति मात्र करता है। मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने साधारणतया अभिनवगुप्त के सिद्धान्त को ही स्वीकृत किया है।

विवेचन—अभिनवगुप्त का सिद्धान्त भारतीय साहित्य शास्त्र में सर्वमान्य सा ही हो गया है और वास्तव में यह बहुत अंशों में पूर्ण भी है। रस सर्वथा विषयीगत है। सहृदय की आत्मा में ही उसकी स्थिति है, वस्तु में नहीं, वस्तु तो केवल उसको उदबुद्ध करती है। काव्य के आस्वादन में हमारे सामने मूलतः तीन सत्ताएँ आती हैं—कवि, वस्तु और सहृदय। आधुनिक आलोचना की शब्दावली में हम यह सकते हैं कि कवि वह व्यक्ति है जो अपनी अनुभूति का सम्प्रेषण करता है, वस्तु तत्त्वतः उसकी अनुभूति है, और सहृदय वह व्यक्ति है जो कवि की इस सम्प्रेष्य अनुभूति को ग्रहण करता है। वस्तु को मैंने तत्त्व रूप में कवि की अनुभूति कहा है जिस पर आपत्ति उठ सकती है। संस्कृत साहित्य शास्त्र मे तो, जैसा कि वस्तु शब्द से ही स्पष्ट है उसकी कवि की अनुभूति से पृथक् सत्ता मानी ही गई है। आज भी प्रश्न हो सकता है कि ऐतिहासिक वृत्त या लोक प्रचलित कहानी या घटना, जिसको कवि अपनी मूल सामग्री के रूप में प्रयुक्त करता है, कवि की अनुभूति कैसे कही जा सकती है? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि कवि का उद्देश्य उस कथा या वृत्त को कहना कभी नहीं होता, उसके व्याज से अपनी अनुभूति को ही अभिव्यक्त करना होता है। उस कथा का महत्त्व उद्दीपन, या फिर, माध्यम से अधिक नहीं होता, क्योंकि संवेद्य कवि की अनुभूति ही है कथा का एक अणु भी नहीं।

दूसरे की कही बात को केवल दुहराने के लिए ही कोई क्या दुहराय ? साधारणत यदि किसी दूसरे की बात का हम अक्षरश दुहराते भी है, ता उसके द्वारा वास्तव म हम अपनी ही बात कहते है। हमारा उद्देश्य अपना आशय प्रकट करना होता ह, दूसरे की बात को दुहराना नही। इस प्रकार तत्त्व रूप मे वस्तु की सत्ता कवि के व्यक्तित्व से स्वतन्त्र नही है। अतएव वस्तु या विषय म रस खोजना अथवाद स अधिक नही है। वस्तु के अन्तगत भट्ट लोल्लट के नायक नायिका भी आ जाते है। य नायक-नायिकाएँ भी (चाहे वे एतिहासिक हा या पौराणिक किंवा कल्पित) काव्य म कवि स पृथक अपनी सत्ता नहीं रखते। उनका ऐतिहासिक अस्तित्व एक ब्याज मात्र है, और उनका व्यक्तित्व सवथा निर्विशेष है। देश और काल की सीमा मे बँधे हुए शकुन्तला और दुष्यन्त व्यक्तिया की हमारे लिए (नाटक-काव्य के श्रोता प्रेक्षक के लिए) उस समय कम से-कम कोई सत्ता नही है। इसका प्रमाण यह है कि दुष्यन्त और शकुन्तला के नाम बदलकर चन्द्रमोहन और जयश्री कर दिय जायँ या हम इतिहास (महाभारत) का ज्ञान ही न हो, अथवा कोई पुरातत्त्ववेत्ता असदिग्ध रूप म यह प्रमाणित कर दे कि 'महाभारत' का शाकुन्तलापाख्यान प्रक्षिप्त है ता भी 'शाकुन्तलम' पढकर हम काव्य रस की अनुभूति अवश्य होगी। मान लीजिए कि वाल्मीकि के राम वास्तव म ऐतिहासिक है, (यद्यपि एसा हो नही सकता !) अब देखिए कि जब वाल्मीकि के एतिहासिक राम, तुलसी के इतिहास भिन्न ईश्वरावतार राम मैथिलीशरण के आधुनिक लोक नायक राम और माईकेल मधुसूदन दत्त के इतिहास विपरीत राम सभी हम रस-दशा तक पहुँचा सकते है ता रस की दृष्टि से एतिहासिक राम का क्या रामत्व रहा ? इस प्रकार मैथिलीशरण गुप्त की यह उक्ति

> राम तुम्हारा चरित स्वय ही काव्य है।
> कोई कवि बन जाय सहज सभाव्य है।।[1]

मूल मे जाकर उनकी भक्ति भावना की ही व्यजक है, राम के रामत्व की नही। राम का जो एक स्वतन्त्र रूप हमे प्रतीत होता है वह वास्तव मे हमारे अन्तमन पर पडा हुआ वाल्मीकि, तुलसी आदि के काव्यो से प्राप्त सस्कारो का सघात मात्र ही ह, वह स्वतन्त्र अस्तित्ववान नही ह। यहा इसका निषेध नही है कि एतिहासिक राम थे—वह अवश्य थे। पर एक ता उनके वास्तविक रामत्व की अनुभूति हमे 'रामायण', 'रामचरितमानस', साकेत आदि पढकर

---

[1] साकेत

कदापि नही हो सक्ती (इसलिए काव्य के रमानुभाव म वह हमारे लिए निरथक है), दूसरे उन्हाने रम का नही, प्रकृत भाव का ही अनुभव किया हागा। गम न सीता के शील सौन्दय पर मुग्ध हाकर प्रेमान द का अनुभव अवश्य किया हागा पर वह रीति भाव का अनुभव था, 'शृगार रस' का नही। यह सयोग मात्र है कि वह अनुभव भी मधुर था और 'रस' भी मधुर हाता है। परन्तु यह समानता सभी दशाओ मे सम्भव नही है। उदाहरण के लिए, जब राम रावण के प्रति क्रुद्ध हुए होगे अथवा सीता वियोग म विपण्ण वा लक्ष्मण के शक्ति लगने पर क्रोध मूछित तव उनका अनुभव मधुर न होकर कटु ही हुआ हागा। फिर उनका अपना अनुभव रस कैसे हो सक्ता है? परन्तु उनके इसी अनुभव को काव्य मे पढकर हम 'रस' लेते है। अतएव नायक म रस की स्थिति साधारणत विश्वसनीय सी लगती हुई भी अन्त मे मिथ्या ही ठहरती है।

अब दो सत्ताएँ रह जाती हैं—कवि और सहृदय की। कवि अपनी अनुभूति को सहृदय के प्रति इस प्रकार प्रेपणीय बनाता है कि उसको ग्रहण करके सहृदय का आनन्द की उपलब्धि होती है। जैसा मैंने पहले कहा है, सहृदय की रसानुभूति मे तो किसी को स देह हो ही नही सक्ता। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि इस रस की स्थिति दोनो मे से किस मे है? इसका उत्तर ठीक वही है जा अभिनवगुप्त ने दिया है—अर्थात 'सहृदय म'। क्याकि जब हम प्रसन होत है तो अपन हृदय रस का अपने आन द का ही अनुभव करते है। आनन्द की स्थिति तो हमारे अपने अन्तर मे ही है। इसको स्वदेश के अध्यात्मदर्शी और विदेश के मनोवैज्ञानिक दोना ही समान रूप से मानत है। भारतीय दशन सुख को अपनी ही आत्मा का विस्तार मानता है, (सु=सुलभ+ख=आकाश, व्याप्ति)। उसमे आनन्द को अपनी ही अस्मिता वृत्ति का आस्वादन कहा गया है—आत्मा का किसी अनात्म के बहाने से आस्वादन ही रस है। 'मैं हूँ' यही रस का सार तत्त्व है।[1] विदेश का मनोवैज्ञानिक भी आनन्द को 'अन्त वृत्तिया का सामजस्य (Systematization of Impulses) ही मानता है।

यह निश्चित हो जाने पर कि रस की स्थिति सहृदय के अन्तर म ही है, एक दूसरी समस्या सामने आती है—फिर कवि किम प्रकार अपनी अनुभूति को ऐसी सवेद्य बना पाता है कि उसको ग्रहण करके सहृदय की रस चेतना जाग्रत हो जाती है? इसका उत्तर होगा—अपन हृदय रस म डुबाकर' कवि जब अपनी अनुभूति का व्यक्त कर पाता है तो उसे भी आत्माभिव्यक्ति का,

[1] डॉ० भगवानदास, 'रस मीमासा'—द्वि० ग्र० प्र०

अस्मिता के आस्वादन का रस मिलता है। अनुभूति को अभिव्यक्त करने म कवि का अपनी अस्मिता के आस्वादन का रस मिलता है और उम सवेदित अनुभूति को ग्रहण करने मे सहृदय को अपनी अस्मिता का आस्वादन होता है। इस प्रकार कवि अपनी अनुभूति के साथ अपना रस भी सहृदय के पास भेजता है, अतएव रस की स्थिति कवि के हृदय म मानना उतना ही अनिवाय है जितना महृदय के मन मे। क्याकि यदि कवि के कथन मे रस नही है तो सहृदय के हृदय मे स्थित रस सुप्त पडा रहेगा, और इसी तरह यदि सहृदय के हृदय मे रस नही है ता कवि का सवेद्य निष्फल हा जायगा। पहले तथ्य के प्रमाण मे अनेक नीरस छद उद्धत किए जा सक्त है और दूसर क प्रमाण मे अनेक अरसिक व्यक्ति। कविता के प्रथम स्फुरण स सम्बद्ध जनश्रुति, जिसके अनुसार आदि कवि का शोक श्लोकत्व का प्राप्त हो गया था, या भटटतौत का यह सिद्धात कि नायक, कवि और श्रोता का अनुभव समान होता है,[1] या फिर अभिनवगुप्त की यह उक्ति कि 'कवि के अन्तगत भाव को जो वाचिक, आगिक मुखरागादि, तथा सात्विक अभिनय द्वारा आस्वाद योग्य बनाता है, वह भाव कहलाता है'[2]—ये सब इस बात के असदिग्ध प्रमाण हैं कि सस्कृत का आचाय कवि के हृदय रस से परिचित तो अवश्य था परतु विधान रूप मे कवि की अनुभूति को सस्कृत साहित्य-शास्त्र म पृथक ही रखा गया है। भट्टतौत का सिद्धात भी उपेक्षित सा ही रहा है।

यह ता हुई श्रव्य काव्य की बात। लेकिन दृश्य काय म नट नटी की सत्ता और माननी पडगी। इनका रसास्वादन स क्या सम्बध है ? रस की स्थिति उनके हृदय म भी माननी पडेगी। नट नटी भी अनिवायत सहृदय ही होने चाहिए अयथा वे सवेद्य का उचित माध्यम नही बन सकत। जब व सवेद्य अनुभूति को पहले स्वय ग्रहण कर सकेंगे, तभी व सहृदय तक सवद्य का पहुँचाने मे सफल हा सकेंगे। इसलिए उनकी सहृदयता के विरुद्ध किए गए सस्कृत आचार्यों क सभी आक्षेप अनुचित है।

अत मे निष्कप यह निकलता है इसम सदेह नही कि कविता पढकर या नाटक देखकर सहृदय को जो रसास्वादन होता है उसकी मूल स्थिति उसी के हृदय म है, अर्थात् मूलत वह उसी की अपनी अस्मिता का आस्वादन है। परन्तु यह तभी सम्भव है जबकि कवि अपनी अनुभूति को उस तक पहुँचाने

---

[1] नायकस्य कवे श्रोतु समानोऽनुभवस्तत।

[2] वागाङ्गमुखरागेण सत्त्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तगत भाव भावयन् भाव उच्यते। ना० शा० ७।२

कदापि नही हो सक्ती (इसलिए काव्य के रमानुभाव मे वह हमारे लिए निरथक है), दूसरे उन्होने रम का नही, प्रकृत भाव का ही अनुभव किया हागा। राम ने सीता के शील सौन्दय पर मुग्ध होकर प्रेमान द का अनुभव अवश्य किया होगा पर वह रीति भाव का अनुभव था, 'शृगार रस' का नही। यह सयोग मात्र है कि वह अनुभव भी मधुर था और 'रस' भी मधुर हाता है। परन्तु यह समानता सभी दशाओ मे सम्भव नही है। उदाहरण के लिए, जब राम रावण के प्रति क्रुद्ध हुए होगे अथवा सीता वियोग म विषण्ण या लक्ष्मण के शक्ति लगने पर क्रोध मूर्छित तब उनका अनुभव मधुर न होकर कटु ही हुआ हागा। फिर उनका अपना अनुभव रस कैसे हो सकता है? परन्तु उनके इसी अनुभव को काव्य मे पढकर हम 'रस' लेते है। अतएव नायक म रस की स्थिति साधारणत विश्वसनीय सी लगती हुई भी अन्त म मिथ्या ही ठहरती है।

अब दो सत्ताएँ रह जाती है—कवि और सहृदय की। कवि अपनी अनुभूति को सहृदय के प्रति इस प्रकार प्रेषणीय बनाता है कि उसको ग्रहण करके सहृदय को आनन्द की उपलब्धि होती है। जैसा मैंने पहले कहा है, सहृदय की रसानुभूति मे तो किसी को सन्देह हो ही नही सकता। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि इस रम की स्थिति दोनो मे स किस म है? इसका उत्तर ठीक वही है जो अभिनवगुप्त ने दिया है—अर्थात 'सहृदय म'। क्योकि जब हम प्रसन्न होत है ता अपने हृदय रस का अपने आनन्द का ही अनुभव करते है। आनन्द की स्थिति तो हमार अपने अन्तर मे ही है। इसको स्वदेश के अध्यात्मदर्शी और विदेश के मनोवैनानिक दोना ही समान रूप से मानत है। भारतीय दशन सुख को अपनी ही आत्मा का विस्तार मानता है, (सु=सुलभ+ख=आकाश, व्याप्ति)। उसम आनन्द को अपनी ही अस्मिता वत्ति का आस्वादन कहा गया है—आत्मा का किसी अनात्म के बहाने से आस्वादन ही रस है। 'मै हूँ यही रस का सार तत्त्व है।'[1] विदेश का मनोवैज्ञानिक भी आनन्द को 'अन्त वृत्तिया का सामजस्य (Systematization of Impulses) ही मानता है।

यह निश्चित हो जाने पर कि रस की स्थिति सहृदय के अन्तर मे ही है, एक दूसरी समस्या सामने आती है—फिर कवि किस प्रकार अपनी अनुभूति को ऐसी सवेद्य बना पाता है कि उसको ग्रहण करके सहृदय की रस चेतना जाग्रत हो जाती है? इसका उत्तर होगा—'अपने हृदय रस म डुबाकर' कवि जब अपनी अनुभूति का व्यक्त कर पाता है तो उसे भी आत्माभिव्यक्ति का,

[1] डॉ० भगवानदास, 'रस मीमासा'—द्वि० अ० प्र०

अस्मिता के आस्वादन का रस मिलता है। अनुभूति को अभिव्यक्त करने म कवि का अपनी अस्मिता के आस्वादन का रस मिलता है और उस सवेदित अनुभूति का ग्रहण करने म सहृदय को अपनी अस्मिता का आस्वादन हाता है। इस प्रकार कवि अपनी अनुभूति के साथ अपना रस भी सहृदय के पास भेजता है अतएव रस की स्थिति कवि के हृदय मे मानना उतना ही अनिवाय है जितना सहृदय के मन मे। क्याकि यदि कवि के कथन म रस नही है ता सहृदय के हृदय मे स्थित रस सुप्त पडा रहेगा और इसी तरह यदि सहृदय के हृदय मे रस नही है तो कवि का सवेद्य निष्फल हा जायगा। पहले तथ्य के प्रमाण मे अनक नीरस छन्द उद्धृत किए जा सकत है और दूसरे के प्रमाण मे अनेक अरसिक व्यक्ति। कविता के प्रथम स्फुरण से सम्बद्ध जनश्रुति, जिसके अनुसार आदि कवि का शोक श्लोकत्व को प्राप्त हो गया था, या भट्टतौत का यह सिद्धान्त कि नायक, कवि और श्राता का अनुभव समान हाता है,[1] या फिर अभिनवगुप्त की यह उक्ति कि कवि के अन्तगत भाव को जो वाचिक, आगिक मुखरागादि, तथा सात्विक अभिनय द्वारा आस्वाद याग्य बनाता है, वह भाव कहलाता है'[2]—ये सब इस बात के असदिग्ध प्रमाण है कि सस्कृत का आचाय कवि के हृदय रस से परिचित तो अवश्य था परन्तु विधान रूप मे कवि की अनुभूति को सस्कृत साहित्य शास्त्र म पृथक ही रखा गया है। भट्टतौत का सिद्धान्त भी उपेक्षित सा ही रहा है।

यह तो हुई श्रव्य काव्य की बात। लेकिन दृश्य काव्य म नट-नटी की सत्ता और माननी पडगी। इनका रसास्वादन से क्या सम्बन्ध है? रस की स्थिति उनके हृदय म भी माननी पडेगी। नट-नटी भी अनिवायत सहृदय ही होने चाहिए अन्यथा वे सवेद्य का उचित माध्यम नही बन सकने। जब व सवेद्य अनुभूति का पहले स्वय ग्रहण कर सकेंगे, तभी वे सहृदय तक सवद्य को पहुँचाने मे सफल हा सकेंगे। इसलिए उनकी सहृदयता के विरुद्ध किए गए सस्कृत-आचार्यों के सभी आक्षेप अनुचित है।

अन्त म निष्कष यह निकलता है इसम सन्देह नही कि कविता पढकर या नाटक देखकर सहृदय का जो रसास्वादन हाता है उसकी मूल स्थिति उसी के हृदय म है, अर्थात मूलत वह उसी की अपनी अस्मिता का आस्वादन है। परन्तु यह तभी सम्भव हैं जबकि कवि अपनी अनुभूति को उस तक पहुँचाने

---

[1] नायकस्य कवे श्रोतु समानोऽनुभवस्तत।

[2] वागङ्गमुखरागेण सत्त्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तगत भाव भावयन भाव उच्यते। ना० शा० ७।२

मे स्वय रस ले सका हो अथवा अपनी अस्मिता का रस ले सका हो, नाटक म नट नटी के विषय म भी यह सत्य मानना पडेगा। इसको स्पष्ट करने के लिए और अधिक प्रत्यक्ष उदाहरण लीजिए।

डाडी यात्रा पर जात हुए गाधीजी का प्रसग है। यह असलय है कि गाधीजी न उस समय एक सात्विक उत्साह का अनुभव किया होगा। मैंने उनके उस भव्य रूप का देखा, सहानुभूति के द्वारा मुझम भी वह भाव जागृत हो गया। कवि सियारामशरण ने पहले एक दशक के रूप मे उस भाव का ग्रहण किया, फिर बाद मे कभी उससे प्रेरित होकर 'बापू' म महामानव गाधी का यह सात्विक उत्साह शब्दबद्ध कर दिया। मैंने उस पढा और एक सात्विक आनन्द का अनुभव किया। इस प्रकार हमारे सामने पाच अनुभव है, एक अनुभव स्वय गाधीजी का, दो अनुभव सियारामशरण के—एक व्यक्ति का जो गाधीजी के प्रत्यक्ष दशन से प्राप्त हुआ था, दूसरा कवि का जो उसे काव्य रूप दने मे प्राप्त हुआ, दो अनुभव मेरे—एक गाधीजी के प्रत्यक्ष दशन से प्राप्त और दूसरा 'बापू के अध्ययन से प्राप्त। अब यह देखना है कि इसमे रस सना किसको दी जा सकती है? गाधीजी के अनुभव को? नही। वह तो भाव (Emotion) मात्र है जो इस प्रसग मे मधुर है, अन्यथा कटु भी हो सकता है। उदाहरण के लिए, सीतारमैया की हार पर गाधीजी की खीझ स्पष्टत ही एक कटु अनुभूति थी। तात्पय यह है कि प्रत्यक्ष अनुभव रस नही हो सकता। इस प्रकार मेरे और सियारामशरण के प्रत्यक्ष अनुभव भी रस की कोटि से बाहर पड जाते है। केवल दो अनुभव रह जाते हैं—कवि का अनुभव और उसके काव्य का अध्ययन करने वाल सहृदय का अनुभव। कवि का अनुभव (गाधी के भव्य उत्साह से प्राप्त) उस अनुभूति का, जो बाद मे प्रत्यक्ष न रहकर सस्कार मात्र रह गई थी, काव्य रूप देने का अर्थात बिम्ब रूप म उपस्थित करने का अनुभव है। काव्य रूप देने म वह उस सस्कार शेष अनुभूति का भावन करता है। भावन की इस प्रक्रिया म एक क्षण एसा आता है जब उसके अपन हृदय का भी सात्विक उत्साह उदबुद्ध हो जाता है। बस तभी कवि के मानस मे काव्य रूप पूण हो जाता है और साथ ही वह रस का अनुभव भी प्राप्त कर लता है। बाहर से प्राप्त किसी अनुभूति के सस्कार का भावन करते हुए अपनी हृदय स्थित वासना का जगा लेना ही तो रस दशा को प्राप्त कर लेना है। यही सहृदय करता है और यही कवि। और यदि काव्य का अभिनय किया जाता है तो सहृदय से पहले इसी प्रकार का भावन तथा वासना का उदबोधन नट के लिए भी अनिवाय हो जाता है।

अतएव आरम्भ मे रचना के समय कवि, और फिर अभिनय के समय नट (यद्यपि उसकी सत्ता अत्यन्त गौण है) अपने हृदय स्थित रस का आस्वादन तो करते ही हैं, साथ ही उनका यह रसास्वादन सहृदय के हृदय मे वासना रूप मे स्थित स्थायी भावो को जागृत करके रस दशा तक पहुँचाने म अनिवाय योग भी देता है। इस प्रकार कविता के विषय म यह लोक-परिचित उक्ति कि वह हृदय से हृदय मे पहुँचती है, मनोवैज्ञानिक रूप म भी पूणत सत्य है।

रस का स्वरूप

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय
वेद्यान्तरस्पशशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदर ।
लोकोत्तरचमत्कारप्राण कश्चित्प्रमातृभि
स्वाकारवदभिन्नत्वेनाऽयमास्वाद्यते रस

—साहित्यदपण ३।२ ३

उपर्युक्त पद्यो मे कविराज विश्वनाथ ने सस्कृत रस शास्त्र म वर्णित रस के स्वरूप का सार अकित कर दिया है। यहाँ सत्वोद्रेक रस का हेतु है, अखण्ड स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, वेद्यान्तर स्पशशून्य, ब्रह्मास्वाद सहोदर लोकोत्तर-चमत्कारप्राण आदि पदो द्वारा रस के स्वरूप का निर्देश किया गया है, 'स्वाकारवदभिन्न' के द्वारा प्रकार का और प्रमाता द्वारा रस के अधिकारी का। परिणामत सस्कृत रस शास्त्र मे रस के मुख्य लक्षण इस प्रकार है

१ आस्वाद्यते (रस्यते) इति रस —जिसका आस्वादन हो वह रस है—अर्थात् रस आस्वाद रूप है। उसके आस्वादयिता सहृदय ही हो सकते है। रस सहृदय-सवेद्य है।

२ यह आस्वाद अनिवायत आनन्दमय ही है और यह आनन्द अखण्ड चिन्मय और वेद्यान्तर स्पशशून्य है। अखण्ड का अथ यह है कि इसमे विभाव, अनुभाव स्थायी, सचारी आदि की पृथक या खण्ड चेतना नही होती, वरन् सभी की अखण्ड चेतना होती है। दूसरे इस समय किसी अन्य विषय की चेतना नही होती और तीसरे यह अनुभूति 'चिन्मय' है—अर्थात अनिच्छा-पूवक एव अबुद्धिपूवक नही, इच्छा और बुद्धि सहित होती है। रस का आवि भाव सत्व की प्रधानता होने पर ही होता है। इसका तात्पय आज के पाठक के लिए यह है कि उसमे ऐन्द्रियता नही होती। रस चवण आस्वाद से अभिन्न होने के कारण भाव से स्पष्टत भिन्न है। वीभत्स रस का अनुभव जुगुप्सा या करुण रस का अनुभव शोक का अनुभव नही है। "भाव, क्षोभ, सरभ,

सवेग, आवेग, उद्वेग, आवेश अग्रेजी म 'इमोशन' का अनुभव रस नही है, किन्तु उस अनुभव का स्मरण, प्रति सवेदन, आस्वादन रस है।"[1]

३ यह आनन्द चमत्कार प्राण है। चमत्कार का अथ है चित्त का विस्तार अर्थात विस्मय। विश्वनाथ ने अपने पितामह का अनुसरण करते हुए चमत्कार को अत्यधिक महत्त्व दिया है परन्तु फिर भी यह मानना पडेगा कि विस्मय या चमत्कार का काव्यानन्द मे यत्किंचित योग अवश्य रहता है। सुदर वस्तु को देखकर मन मे आनन्द और विस्मय की मिश्रित भावना का उद्रेक होता है। सुदर प्राकृतिक दृश्य अथवा कलाकृति (उदाहरण के लिए ताजमहल) को देखकर मन मे जो भावना उत्पन्न होती है वह केवल आनन्द ही नही कही जा सकती, उसमे विस्मय का भी अनिवाय योग रहता है। विदेश के सौन्दय शास्त्र मे भी सौन्दय अनुभूति म विस्मय (Wonder) का तत्त्व अनिवाय माना गया है। इसका आशय यही है कि यह अनुभूति स्थूल न होकर सूक्ष्म है प्रत्यक्षता के अतिरिक्त इसमे बौद्धिकता भी वतमान रहती है। कवि की लोकोत्तर सृजन प्रतिभा के प्रति आदर और विस्मय का भाव भी रहता है बस। इसके आगे, अदभुत को ही केवल एक रस मानना या चमत्कार को बौद्धिक व्यायाम अथवा पहली बुझाना समझ लेना, चमत्कार का अनथ करना है। बाद के आचार्यों ने उसे इसी स्थूल मे ग्रहण करके पचीदा मजमूना के गारखधधे इकट्ठे कर दिये है।

४ रस न ज्ञाप्य है, न काय, न साक्षात अनुभव है, न परोक्ष, न वह निर्विकल्पक ज्ञान है न सविकल्पक, अतएव किसी मौलिक परिभाषा म आबद्ध न हो सकने के कारण वह अनिवचनीय एव अलौकिक है, ब्रह्मानन्द सहोदर है सवितक ब्रह्मानन्द का सहोदर है निर्वितक समाधि का नही क्योकि उसम तो अहकारमयी वासना का सवथा नाश हो जाता है परन्तु रस मे ऐसा नही होता। सक्षेप मे, आज के मनोवैज्ञानिक के सामने तीन प्रश्न हैं

१ क्या रस अनिवायत आनन्दमयी चेतना है ?

२ क्या रस अनिवायत भावानुभूति से भिन्न है ?

३ क्या यह आनन्द अभी तक निराला है ?

आनन्द के विषय म मनोविज्ञान के दो मत है। एक मत यह है कि जीवन की सभी क्रियाओ का लक्ष्य आनन्द प्राप्ति है अर्थात जीवन की समस्त क्रियाएँ आनन्दोन्मुख हैं। यह सम्प्रदाय आनन्दवादी (हडानिस्ट) कहलाता है। दूसरे

---

[1] 'रस मीमासा'—डॉ० भगवानदास

मत के अनुसार ये क्रियाएँ अपने से भिन्न कोई अपर लक्ष्य नही रखती, ये अपना लक्ष्य आप ही है अर्थात क्रियाशील होना जीवन का धर्म है, जीवन के लिए क्रिया अनिवार्य है। इस सम्प्रदाय का नाम है साथकतावादी (होरमिक)। इनमे पहला, जीवन को साधन और आनन्द को साध्य मानता है। यह भारतीय आदर्शवादी दृष्टिकोण के अनुकूल है। दूसरा, जीवन को ही जीवन का अंतिम साध्य मानता है, यह वैज्ञानिक वस्तुवाद के अनुकूल है। आजकल अधिकतर मनोवैज्ञानिक इस दूसरे मत को ही स्वीकार करते है। वे आनन्द की स्थिति स्वीकार करते है, परन्तु उसे अनुभूति या भाव की विधि मानते है लक्ष्य नही, और इस प्रकार काव्य मे आनन्द को साध्य होने का गौरव वे नही देते—उसकी सत्ता को साधारण रूप मे स्वीकार करते हुए भी अनिवार्य नही मानते। उदाहरण के लिए, दुखान्त नाटक का भी आस्वादन आनन्दमय होता है यह वे नही मानते।[1] परन्तु वास्तव मे इस विवेचन मे शाब्दिक सूक्ष्मता के अतिरिक्त कोई विशेष ठोस तथ्य नही है। आनन्द को ये लोग हमारी अन्तर्वृत्तियो की क्रिया की सफलता मात्र मानते है। इनका कहना है कि जब हमारी वृत्तिया की क्रिया सफल होती है—वे तृप्त हो जाती है, तो हमे आनन्द की चेतना होती है। परन्तु इस आनन्द का महत्त्व कुछ नही है, महत्त्व है क्रिया का, और उसकी सफलता का। आगे जब क्रिया के मूल्य का प्रश्न आता है तो इन लोगो का कहना है कि क्रिया का मूल्य वृत्तिया के सकलन और समन्वय से आँका जाना चाहिए। जो क्रिया जितनी अधिक हमारी वृत्तिया को सकलित और समन्वित करेगी, उतनी ही मूल्यवान होगी। काव्य और कला मे इस सकलन की अत्यधिक शक्ति है अतएव वे जीवन की अत्यन्त मूल्यवान सम्पत्ति है। अब प्रश्न यह उठता है कि अन्तर्वृत्तिया का समन्वय, जो उसकी तृप्ति पर अवलम्बित है, आनन्द नही है तो क्या है? ये लोग उत्तर देंगे कि उससे आनन्द की प्राप्ति तो होती है, पर वह केवल आनन्द नही है, आनन्द से भिन्न है, वह एक

[1] To read a poem for the sake of the pleasure which will ensue if it is successfully read is to approach it in an inadequate attitude Obviously, it is the poem in which we should be interested, and not in a by product of having managed successfully to read it

This error, here a legacy in part from the criticism of an age which had a still poorer psychological vocabulary than our own is one reason why Tragedy for example is so often misapproached

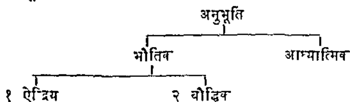
(*Pleasure—Principles of Literary Criticism* by I A Richards pp 96 97)

वास्तविक अनुभूति है। आनन्द उस अनुभूति की विधि मात्र है। लेकिन यह केवल बात को उलझा देना है। यह पूछा जा सकता है कि इस वास्तविक अनुभूति का आनन्द से विभिन्न रूप क्या है ?

आप अपनी स्थिति का स्मरण करके देखिए, दोनो मे विभेद करना असम्भव है। आनन्द की यह प्रकृति है कि वह अपने साथ किसी दूसरी अनुभूति की स्थिति सहन नही कर सकता। अतएव वृत्तियो के सकलन की अनुभूति आनन्द की अनुभूति से अभिन्न ही होगी। इस प्रकार वत्तियो की पूर्ण सकलित अवस्था मे तृप्ति अथवा वृत्तियो के पूर्ण सकलन की अनुभूति अखण्ड आनन्द के अतिरिक्त और क्या हो सकती है। वास्तव मे आनन्द का यह निषेध आनन्द की ही सत्ता का प्रतिपादन करना है। हाँ, स्वस्थ और अस्वस्थ, क्षणिक और स्थायी आनन्द मे भेद करता हुआ अन्त मे स्वस्थ आनन्द की (जो वास्तविक और जीवनप्रद है) *प्रतिष्ठा यह अवश्य करता है और इसे मान* लेन मे किसी को क्या आपत्ति हो सकती है ? रस को काव्य की आत्मा मानने वाले आलोचक का सबसे समथ विरोधी यही साथकतावादी सम्प्रदाय है इससे समझौता हो जाने के बाद कोई विशेष प्रतिनिधि नही रह जाता। भारतीय दशन मे भी कुछ सम्प्रदाय है जो आनन्द से भी ऊपर 'स्वरूप मे अवस्थान को ही जीवन का साध्य मानते है। परन्तु उससे हमारा कोई विरोध नही, क्योकि काव्य जीवन की अनुभूति है उससे निर्विकल्प समाधि तक ले जाना हास्यास्पद होगा और जब तक अनुभूति की सत्ता रहती है ये सम्प्रदाय भी आनन्द का तिरस्कार नही करते। अन्तर केवल इतना ही है कि ये आनन्द से भी और ऊपर स्वरूप मे अवस्थान की दशा तक जाते है। परन्तु वहा तो अनुभूति की सत्ता ही नही रहती निदान वे काव्य के लिए अप्रासगिक है।

दूसरा प्रश्न उठता है कि इस आनन्द का स्वरूप क्या है। इस विषय मे पहली स्थिति तो यही है कि रस का आनन्द भाव (Emotion) से भिन्न है, और उसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि कटु भावो द्वारा भी तो रस की प्राप्ति होती है। शारीरिक रति के आनन्द और शृगार रस के आनन्द म अभिन्नता का भ्रम हो भी सकता है। परन्तु जुगुप्सा की प्रत्यक्ष अनुभूति और वीभत्स रस अथवा शोक की प्रत्यक्ष अनुभूति और करुण रस मे अभिन्नता कैसे हो सकती है यद्यपि इतना मानना पडेगा कि इनमे सम्बन्ध अवश्य है। न शृगार रस रति की अनुभूति से असम्बद्ध है और न करुण रस शोक की अनुभूति से। अर्थात प्रत्येक रस के आनन्द का स्वरूप उसके स्थायी भाव से मूलत सम्बद्ध है। सस्कृत साहित्य शास्त्र का यह दूसरा दावा (कि रस भाव से पृथक है)

स्पष्टत प्रामाणिक है और आज के मनोविज्ञान को उसके विरुद्ध कुछ नही कहना। इसके आगे तीसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है—रस भौतिक अनुभूति है या अभौतिक ? आत्मा की स्थिति मानकर यदि हम चलें तो अनुभूति को स्थूलत तीन रूपों मे विभक्त कर सकते है



स्पष्ट रूप से यह विभाजन स्थूल है आत्यन्तिक नही है, क्योकि ऐन्द्रिय या बौद्धिक अनुभूति बिना आध्यात्मिक अनुभूति के असम्भव है, इसी प्रकार बौद्धिक या आध्यात्मिक अनुभूति ऐन्द्रिय अनुभूति से स्वतन्त्र कैसे हो सकती है ? अथवा बुद्धि की क्रिया के बिना ऐन्द्रिय या आध्यात्मिक क्रिया मनुष्य मे कैसे कृतकार्य हो सकती है ? अतएव यह विभाजन अनुभूति मे उपयुक्त किसी एक तत्त्व की प्रधानता का ही द्योतक है—एकमात्रता का नही। उदाहरण के लिए, चुम्बन का आनन्द ऐन्द्रिय आनन्द है, गणित के किसी प्रश्न को सुलझा लेने का आनन्द बौद्धिक है, और ब्रह्म के साक्षात्कार अथवा योग का आनन्द आध्यात्मिक। अस्तु

अब यह देखना है कि काव्यानन्द इनमे से किसके अन्तर्गत आता है या यह *किसी के अन्तर्गत ही नही आता स्वत-सापेक्ष और स्वतन्त्र है ?* संस्कृत के आचार्य ने तो उसे अलौकिक और अनिर्वचनीय कहकर मुक्ति पा ली है। उसने तो स्पष्ट कह दिया है कि काव्यानन्द न ऐसा न वैसा अतएव वह अनिर्वचनीय है। परन्तु विदेश मे उसके स्वरूप का इतिहास रोचक रहा है। वहा का *आद्याचार्य प्लेटो* बुद्धि और *आत्मा को एक मानता हुआ* केवल *दो प्रकार की* अनुभूतियो की सत्ता स्वीकार करता था—आध्यात्मिक (बौद्धिक) अनुभूति, ऐन्द्रिय अनुभूति। काव्यानुभूति को उसने स्पष्टत सौन्दर्यानुभूति (जिसे वह आत्मा का अनुभव मानता था) से पृथक ऐन्द्रिय अनुभूति मानकर मिथ्या निम्न कोटि का तथा अस्वस्थ आनन्द माना है। अरस्तू ने उसे सर्वथा मिथ्या तो नही माना है परन्तु ऐन्द्रिय अवश्य माना है और सौन्दर्य से पृथक रखा है। शताब्दियो तक यूरोप मे प्लेटो और अरस्तू के मत ही साधारणत मान्य रहे, परन्तु बाद मे रोमन विद्वान प्लोटिनस ने उनका स्पष्ट खण्डन करते हुए *काव्यानुभूति को आध्यात्मिक अनुभूति घोषित किया*

"The beauty of natural objects is the archetype existing in the soul which is the fountain of all natural beauty Thus was

Plato in error (he said) when he despised arts for imitating nature for nature herself imitates the idea, and art also seeks her inspiration directly from those whence nature proceeds [1]

इसका साराश यह है—प्रकृति के सौन्दर्य का उद्गम आत्मा है। अतएव प्लेटो का यह निर्णय भ्रान्त है कि कला प्रकृति का अनुसरण करती है और प्रकृति स्वय ज्ञान की अनुकृति है इसलिए (अनुकृति की अनुकृति होने के कारण) कला मिथ्या और अस्पृहणीय है। कारण यह है कि कला का उद्गम भी वही ज्ञान है जो स्वय प्रकृति का। इस प्रकार प्लाटिनस ने कला का सौन्दर्य के साथ तादात्म्य करते हुए उसे आध्यात्मिक अनुभूति का गौरव प्रदान किया और फिर इसी का हीगेल आदि आदर्शवादी दार्शनिकों ने वैधानिक रूप देकर एक सिद्धान्त बना दिया। पीछे के दार्शनिक कला को अपने स्वभाव के अनुसार साधारणत आध्यात्मिक या ऐन्द्रिय मानते रहे और बहुत समय तक इन्ही दो मतो का आवर्तन होता रहा। अठारहवी शताब्दी में एडीसन ने काव्यानन्द को कल्पना का आनन्द मानते हुए, उसे इन दोनो से पृथक रूप में सामने रखा। उसके अनुसार कल्पना का आनन्द वह आनन्द है जो वस्तु के मूल रूप और कला द्वारा अनुकृत रूप के बीच में मिलने वाले साम्य के भावन से प्राप्त होता है। साम्य के भावन द्वारा प्राप्त यह कल्पना का आनन्द प्रत्यक्षत ही आध्यात्मिक अथवा बौद्धिक आनन्द और ऐन्द्रिय आनन्द दोनो से भिन्न है। वास्तव में इसमें भारतीय रस का थोडा सा आभास मिलता है। उन्नीसवी शताब्दी में रोमाण्टिक भाव स्वातन्त्र्य का प्रभाव इतना अधिक बढा कि बुद्धि की उपेक्षा करके काव्यानन्द का स्वरूप एक साथ अस्थिर हो गया, प्रत्यक्ष जीवन से काव्य का स्पर्श इतना कम हो गया कि धीरे धीरे लोग काव्यानुभूति को एक निरपेक्ष अनुभूति मानने लगे जिसकी स्पष्ट प्रतिध्वनि बीसवी शताब्दी के पहले चरण में ब्रैडले और क्लाइव आदि में निश्चित रूप से सुनाई पडी। इसके अनुसार काव्यानन्द एक विशिष्ट और अनुपम आनन्द है, जो लौकिक अनुभूतियो का विवेचन करने वाली किसी भी शब्दावली द्वारा व्यक्त नही किया जा सकता। इस प्रकार इनका मत भारतीय आचार्यों से मिल जाता है। कुछ ऐसी ही परिस्थितियो मे अभिव्यजनावाद का उदय हुआ और प्रसिद्ध दार्शनिक बनेदेता क्रोचे ने बुद्धि की परिधि के बाहर और इन्द्रियो की परिधि के भीतर मानव प्राण चेतना मे सहजानुभूति को एक पृथक शक्ति मानते हुए काव्य या कला को

---

[1] *Aesthetic Historical Summary*—B Croce

इसी शक्ति का गुण माना। इनके सिद्धान्त के अनुसार काव्यानुभूति बौद्धिक अनुभूति और ऐन्द्रिय अनुभूति की मध्यवर्ती एक पृथक् अनुभूति सहजानुभूति है जिसका निर्माण बौद्धिक धारणाओं (Concepts) अथवा ऐन्द्रिय संवेदना (Sensations) से न होकर बिम्बों से होता है। क्रोचे का यह मत कलावादियों के मत का वैज्ञानिक या वैधानिक रूप है। इस प्रकार संक्षेप में स्वदेश विदेश के साहित्य शास्त्र में काव्यानुभूति अथवा काव्यानन्द विषयक पाँच सिद्धान्त मिलते हैं

१ काव्य का आनन्द प्रत्यक्षतः ऐन्द्रिय आनन्द है। इस मत का प्रवर्तन किया प्लेटो ने और आधुनिक युग में परिपोषण किया डयूवाय ने। इसके अनुसार काव्य या कला से प्राप्त आनन्द ठीक वैसा ही है जैसा सरकस से मिलता है।

२ काव्य का आनन्द आत्मिक आनन्द है। आत्मा सहज सौन्दर्य रूप है, सहज आनन्द रूप है। काव्य उसी का उच्छलन है, अतः वह स्वभावतः आध्यात्मिक अनुभूति है। स्वदेश विदेश के आदर्शवादी आचार्य इसी मत को सत्य मानते हैं, हीगेल और रवीन्द्रनाथ का यही मत है।

३ काव्यानन्द कल्पना का आनन्द है अर्थात् मूल वस्तु और उसके काव्याङ्कित रूप की तुलना से प्राप्त आनन्द है। यह एडीसन का मत है।

४ काव्यानन्द सहजानुभूति का आनन्द है। इस मत के प्रवर्तक है क्रोचे।

५ काव्यानन्द सभी प्रकार के लौकिक आनन्दों से भिन्न एवं अनुपम और विचित्र आनन्द है जो स्वतः सापेक्ष्य है। यह काफी पुराना सिद्धान्त है। विदेश में इसका जन्म उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ और इस युग में डॉ० ब्रैडले[1] द्वारा इसकी प्रतिष्ठा हुई।

---

[1] (i) First this experience is an end in itself, is worth having on its own account, has an intrinsic value Next, its poetic value is this intrinsic worth alone For its nature is to be not a part, nor yet a copy of the real world as we commonly understand that phrase but to be a world by itself, independent complete autonomous'

(A C Bradley *Oxford Lectures on Poetry*, p 5)

(ii) "Thus Mr Clive Bell used to maintain the existence of an unique emotion—aesthetic emotion"

(Richards, I A *Principles of Literary Criticism*)

(iii) To appreciate a work of art we need bring with us nothing from life no knowledge of its ideas and affairs no familiarity with its emotions and to not forget that a knowledge of life can help no one to our understanding

(Clive Bell *Art* p 75)

उपर्युक्त सभी मत अपना-अपना महत्त्व रखते हुए मनोविज्ञान की कसौटी पर पूरे नहीं उतरते और इसी कारण आज के विद्यार्थियों को पूर्ण परितोष करने में असमर्थ रहते हैं। काव्य की अनुभूति प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय अनुभूति (Direct perception) नहीं है यह पहले ही प्रमाणित किया जा चुका है क्योंकि ऐसा मान लेने पर शोक, जुगुप्सा आदि की अभिव्यंजना से प्राप्त अनुभूति शोक और जुगुप्सामय ही होगी, जो कि स्पष्टतः असत्य है। काव्य की अनुभूति को आध्यात्मिक अनुभूति मानना भी आज स्वीकार्य नहीं, क्योंकि एक तो आत्मा की सत्ता ही मान्य नहीं है दूसरे काव्यानन्द में चपलता आदि की स्थिति इतनी स्पष्ट है कि उसे आत्मा के शुद्ध अचचल आनन्द का रूप मान लेना हास्यास्पद होगा। एडीसन का कल्पना का आनन्द आत्यन्तिक तथ्य नहीं है क्योंकि कल्पना मन (सूक्ष्मेन्द्रिय) और बुद्धि की क्रिया मात्र है, स्वतन्त्र सत्ता नहीं। अतएव कल्पना का आनन्द ऐन्द्रिय और बौद्धिक आनन्द से स्वतन्त्र नहीं है। इसी प्रकार क्रोचे द्वारा प्रतिष्ठित सहजानुभूति की शक्ति (Intuition) को भी स्वतन्त्र शक्ति मान लेने के लिए मनोविज्ञान आज तैयार नहीं है। मनोवैज्ञानिकों ने एक स्वर से कह दिया है कि इस विचित्र शक्ति के लिए मनोविज्ञान में कोई पृथक स्थान नहीं। अन्त में काव्यानुभूति को अनिर्वचनीय कहना या उसको एक विचित्र और स्वतः सापेक्ष अनुभूति मानना समस्या को सुलझाना नहीं, उससे भागना है। इस विषय में अनेक युक्तियाँ दी जा सकती हैं परन्तु सबसे सीधा और प्रबल तर्क रिचर्ड्स का है। वे कहते हैं कि जब सौन्दर्य की अनुभूति के लिए हमारे पास कोई विशिष्ट या पृथक इन्द्रिय नहीं है तो उस अनुभूति को भी विशिष्ट या पृथक कैसे माना जा सकता है। उसका अनुभव साधारण इन्द्रियों द्वारा ही तो होता है। इसलिए उसे साधारणतः ऐन्द्रिय अनुभूति से भिन्न कैसे मानें, अतएव मनोविज्ञान की परिधि के भीतर ही अर्थात बौद्धिक और ऐन्द्रिय अनुभूतियों के अन्तर्गत ही काव्यानुभूति का स्वरूप निर्णीत करना होगा। हम देखते हैं कि काव्यानुभूति में चित्त की द्रुति, विस्तार आदि मानसिक संवेदन तो होते ही हैं—रोमांच, अश्रु आदि शारीरिक संवेदन भी प्रायः अनुभूत होते हैं अतएव काव्यानुभूति में ऐन्द्रिय अनुभूति का अंश अवश्य मानना होगा। यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है इसमें न भारतीय आचार्य ने और न विदेश के दार्शनिक ने ही कभी सन्देह किया है। परन्तु हम यह भी देखते हैं कि प्रत्यक्ष रूप में अपने प्रियजन का स्पर्श करके चित्त में द्रुति और शरीर में रोमांच का जो अनुभव होता है वह उस अनुभव से स्पष्टतः भिन्न है जो रंगमंच पर इसी प्रकार के प्रसंग को देखकर अथवा उनसे भी किंचित भिन्न नाटक पढ़कर प्राप्त

होता है। चित्त मे द्रुति और शरीर मे रोमाच इस समय भी होता है, पर वह पहले से भिन्न होता है। कैसा होता है? स्पष्टत उतना प्रत्यक्ष, अतएव उतना तीव्र नही होता। दोनो मे भिन्नता तो अवश्य है पर यह भिन्नता, प्रत्यक्षता एव तीव्रता की मात्रा की भिन्नता होती है। यह दूसरी अनुभूति अपेक्षाकृत अप्रत्यक्ष और मन्द है। और इस अपेक्षाकृत अप्रत्यक्षता का कारण यह है कि यह (काव्य का) अनुभव प्रत्यक्ष घटना का अनुभव नही है, भावित (Contemplated) घटना का अनुभव है। भावन करने मे पहले कवि की, फिर दर्शक या पाठक को बुद्धि का उपयोग करने की आवश्यता होती है। अत परिणाम यह निकला कि काव्यानुभूति है तो ऐन्द्रिय अनुभूति ही परन्तु साधारण नही है, भावित अनुभूति है। अथात उसम ऐन्द्रिय और बौद्धिक अनुभूति के तत्त्वो का लवण-नीर-सयोग है। अब एक शब्द रह गया अनुभूति, जो व्याख्या की अपेक्षा करता है। अनुभूति का विश्लेपण करने पर हमारे हाथ मे केवल सवदन (Sensations) रह जाते है जिनको वास्तव म हम अपने मनोजगत के अणु परमाणु कह सकते है। शारीरिक रूप म यह प्रत्यक्ष और स्थूल होते है मानसिक रूप मे य सूक्ष्म और बिम्ब रूप होते हैं, और बौद्धिक रूप तक पहुँचते-पहुँचते इतने सूक्ष्म हो जाते है, अर्थात इनके बिम्ब भी इतने सूक्ष्म हो जाते है कि वे लगभग अरूप ही से लगते है। उनका रूप नही, केवल अन्वित सूत्र ही रह जाता है जैसे बहुत बारीक जजीर की कडिया नही दिखाई पडती केवल सूत्र ही दिखाई पडता है। इस प्रकार वास्तव मे अनुभूति अपने सभी रूपो म मूलत सवेदन रूप ही है उसमे (शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक सभी रूपो म) केवल प्रत्यक्षता की मात्रा का ही अन्तर है, मूलगत प्रकार का नही। अत काव्य की अनुभूति या आनन्द सवदन रूप ही है परन्तु यह सवेदन स्थूल और प्रत्यक्ष न होकर सूक्ष्म और बिम्ब रूप होते है। साधारण रूप म प्रत्यक्षता और तीव्रता की मात्रा के विचार से हम क्रमश तीन प्रकार के सवेदनो की कल्पना कर सकते है—१ एक तो शुद्ध प्राकृतिक सवेदन (य एकान्त प्रत्यक्ष तथा स्थूल होते है), जो उदाहरण के लिए, हम अपने प्रियजन के प्रत्यक्ष स्पर्श आदि से प्राप्त होते है। २ दूसरे वे सवेदन, जो उस स्पर्श के स्मरण से प्राप्त होते हैं—ये मानो पहले प्रकार के सवेदनो के बिम्ब रूप है। स्वभावत ही ये प्रत्यक्ष तथा स्थूल कम, और आन्तरिक अथवा सूक्ष्म अधिक होते हैं। ३ तीसरे व सवेदन जो इस स्मृति के विश्लेपण या बौद्धिक अध्ययन आदि से प्राप्त होते है। ये मानो बिम्ब के भी प्रतिबिम्ब हैं और स्वभाव से ही अत्यन्त आन्तरिक एव सूक्ष्म होते हैं। वास्तव मे इनका स्थूल शारीरिक अश प्राय नष्ट ही हो

जाता है। इन्हें हम बौद्धिक संवेदन कह सकते हैं। सभी प्रकार की बौद्धिक क्रियाओं में हम इसी प्रकार के संवेदन प्राप्त होते हैं। प्रत्यक्ष जीवन में प्रायः ये ही तीन प्रकार के संवेदन हमारे अनुभव में आते हैं, परन्तु पिछले दो प्रकार के संवेदनों के बीच एक चौथे प्रकार के संवेदन भी होते हैं जो स्मृति के भावन से (क्रोचे के शब्दों में उसकी सहजानुभूति से और साधारण व्यावहारिक शब्दावली में उसका काव्य रूप में उपस्थित या ग्रहण करने से) प्राप्त होते हैं। यह भावन का अनुभव न तो स्मृति का प्रत्यक्ष अनुभव होता है और न उसके विश्लेषण आदि का बौद्धिक अनुभव, स्मृति के अनुभव की अपेक्षा यह अधिक सूक्ष्म और बौद्धिक अनुभव की अपेक्षा अधिक स्थूल होता है, और उसी के अनुपात से उसके संवेदन भी एक की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और दूसरे की अपेक्षा स्थूल होते हैं। इस प्रकार काव्य से प्राप्त संवेदनों की स्थिति प्रत्यक्ष मानसिक संवेदनों से सूक्ष्मतर और बौद्धिक संवेदनों से अपेक्षाकृत अधिक प्रत्यक्ष एवं स्थूल ठहरती है। इसीलिए तो काव्यानुभूति में एक ओर ऐन्द्रिय अनुभूति की स्थूलता और तीव्रता (ऐन्द्रियता और कटुता) नहीं होती और दूसरी ओर बौद्धिक अनुभूति की अरूपता नहीं होती, और इसीलिए वह पहले से अधिक शुद्ध परिष्कृत और दूसरी से अधिक सरस होती है। यहाँ यह शंका एक बार फिर उठती है कि यदि काव्यानुभूति संवेदनों से ही निर्मित है तो कटु संवेदनों के काव्य रूप की अनुभूति मधुर क्यों होती है। इसका समाधान करने से पूर्व कटु संवेदन और मधुर संवेदन की परिभाषा करना उचित होगा। वास्तव में संवेदन न अपने आप में कटु है और न मधुर, कटुता और मधुरता तो अनुभूति का गुण है। अनुभूति में एक पृथक् संवेदन नहीं होता, संवेदनों का एक विधान होता है। जब संवेदनों में सामंजस्य और अन्विति स्थापित हो जाती है तो हमारी अनुभूति मधुर होती है और जब ये विशृंखल और विकीर्ण होते हैं, तो अनुभूति कटु होती है। जैसा मैंने कहा—काव्य से प्राप्त संवेदन प्रत्यक्ष न होकर सूक्ष्म बिम्ब रूप होते हैं। एक तो इसी कारण उनकी कटुता अत्यन्त क्षीण हो जाती है, दूसरे, वे कवि द्वारा भावित होते हैं। इसलिए अनिवार्यतः उनमें सामंजस्य स्थापित हो जाता है क्योंकि काव्य के भावन का अर्थ ही अव्यवस्था में व्यवस्था स्थापित करना है और अव्यवस्था में व्यवस्था ही आनन्द है। इस प्रकार जीवन के कटु अनुभव भी काव्य में, अपने तत्त्व रूप संवेदन के समन्वित हो जाने से आनन्दप्रद बन जाते हैं।

भाव का विवेचन

भाव की परिभाषा—संस्कृत में भाव का अर्थ है स्थिति। साधारण रूप में

हम कह सकते है कि "बाह्य जगत् के सवेदना से मनुष्य के हृदय म जो विकार उठत है वे ही मिलकर भाव की सज्ञा प्राप्त करते है।" आधुनिक मनोवैज्ञानिका न भाव या मनोविकार का वणन करते हुए लिखा है

"We must be satisfied with the merely provisional description of an emotion as a state of mind characterized predominantly by feeling and activity, aroused by the perception of certain specific objective conditions or specific free ideas of memory and imagination'[1]

"(स्थूलत यह कहा जा सकता ह कि) विशेष बाह्य स्थितिया के सवेदन अथवा स्मृति एव कल्पना के स्वतन्त्र विचारा द्वारा जागृत मनोदशा ही भाव है, जिसके दो प्रधान गुण हैं, अनुभूति और प्रयत्न।" और स्पष्ट शब्दा म डॉ० मैकडूगल के आधार पर यह कहा जा सकता ह कि हमारी किसी स्वाभाविक वृत्ति के जागृत होत ही उस वृत्ति की अनुकूल पशिया और स्नायुओ म ओज का सचरण होने लगता है। आज सचरण की यह अवस्था उत्तेजना की अवस्था होती है, और प्रत्यक परिस्थिति म इस उत्तेजना मे एक ऐसी विशिष्टता वतमान रहती है जिसके कारण हम उमे भय, क्रोध, घृणा आदि का पृथक नाम दे सकते हैं। यहाँ स्वाभाविक वृत्ति की जागृति' और 'उत्तेजना म निहित विशिष्टता' दाना भाव क मानसिक रूप का वणन करत ह, और 'स्नायु एव पेशिया मे ओज का सचरण उसके शारीरिक रूप का द्योतन। इन मानसिक और शारीरिक रूपो के अतिरिक्त भाव के लिए कुछ स्थितियाँ भी अनिवाय है

१ भाव के विषय की सत्ता अवश्य होगी क्योकि भाव वास्तव म व्यक्ति की वस्तु अथात विषयी की विषय के प्रति मानसिक प्रतिक्रिया होती है।

२ भाव का सुखात्मक अथवा दु खात्मक आस्वादन निश्चय रूप मे होगा।

३ इस मानसिक प्रतिक्रिया क परिणामस्वरूप कुछ प्रयत्न भी अनिवायत होगा।

४ भाव की शारीरिक अभिव्यक्ति अवश्य होगी अर्थात स्नायु और पशिया के परिवतन स्वरूप शरीर म विकार अवश्य उत्पन्न होगे।

५ किसी एक भाव की स्थिति निरपेक्ष नही रह पाएगी, उसमे अनक विकार उत्पन्न होते रहग।

---

[1] *Elements of Psychology*—Mellone and Drummond

मनोविज्ञान के पण्डितों में भाव के मानसिक और शारीरिक रूप के पूर्वापर कार्यक्रम को लेकर बहुत-कुछ विवाद चला है। जेम्स, मैक्डूगल आदि का कहना है कि भाव का मानसिक रूप शारीरिक रूप का परिणाम है। स्टाउट आदि का विचार है कि ऐसा शारीरिक संवेदनों के लिए तो अवश्य कहा जा सकता है, परन्तु सभी भावों के विषय में यह क्रम नहीं माना जा सकता। उनके मत में प्रायः इसका विपरीत क्रम ही स्वीकार्य है। हम इस विवाद में न पड़कर यही कह सकते हैं कि भारतीय दर्शन में यह दूसरा मत ही ग्रहण किया गया है। चेतना की पृथक् सत्ता स्वीकार करने वालों के लिए यही मत ग्राह्य हो सकता है।

स्थायी और संचारी का अन्तर : मनोवृत्ति और मनोविकार का अन्तर— संस्कृत साहित्य शास्त्र के आचार्य भाव को सिद्ध मानकर चला है, अतएव उसने प्रकृत भाव (Emotion) की परिभाषा नहीं की। उसने या तो 'स्थायी और संचारी भाव' की परिभाषा की है या फिर रस की अपरिपक्व दशा के अर्थ में पारिभाषिक 'भाव' का विवेचन किया है। स्थायी भाव की परिभाषा करते हुए साहित्यदर्पणकार ने लिखा है :

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमा।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः॥ सा० द० ३।१७४

अर्थात् अविरुद्ध और विरुद्ध भाव जिसको न छिपा सकें, जो आस्वादन अंकुर का मूल हो वही भाव स्थायी भाव कहलाता है। इसके विपरीत—

विशेषादाभिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिमग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः॥ सा० द० ३।१४०

स्थिरता से विद्यमान रत्यादि स्थायी भाव में उन्मग्न-निमग्न अर्थात् आविर्भूत तिरोभूत होने वाले (स्थायी भाव रूपी जल में तरंगों की भाँति संचरण करने वाले) भाव संचारी कहलाते हैं। उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि स्थायी भाव स्थिर होते हैं, संचारी अस्थिर। स्थायी भाव एक स्थिर मनोदशा है, और संचारी एक संचरणशील मनोविकार है। यह अन्तर बहुत कुछ वैसा ही है जैसा मनोविज्ञान के 'मनोवृत्ति' (Sentiment) और 'मनोविकार' (Emotion) के बीच में पाया जाता है। मनोवृत्ति एक स्थिर मनोदशा—एक दृष्टिकोण है : मनोविकार एक अस्थिर संचरणशील विकार मात्र है। 'मनोविकार एक संचरणशील अनुभव है। मनोवृत्ति एक स्थिर वृत्ति है जिसका कि अनेक मनोविकारों और मानसिक क्रियाओं द्वारा क्रमशः निर्माण होता है। मनोवृत्ति एक प्रकार का मानसिक संस्थान है

अथवा उसका एक अंश है ।"[1] संक्षेपतः मनोविकार और मनोवृत्ति में दो मुख्य अंतर हैं

१ मनोविकार अस्थिर अनुभव होता है, मनोवृत्ति अपेक्षाकृत स्थिर ।

२ मनोविकार स्वभाव, वृत्ति या मात्रा (Instinct) से सम्बद्ध है, मनोवृत्ति विचार (Idea) से, अर्थात् उसमें बौद्धिक तत्त्व भी अनिवार्यतः विद्यमान रहता है ।

संस्कृत का संचारी भाव तो स्पष्टतः मनोविज्ञान का मनोविकार है । यहां हम संचारी की परिधि में रति, शोक, हास्य, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद की भी गणना कर रहे हैं क्योंकि ये भाव भी तो सर्वदा स्थायी न होकर समय समय पर संचार के रूप में सामने आते हैं ।

स्थायी भाव की मनोवैज्ञानिक स्थिति—अब प्रश्न रह जाता है स्थायी भाव का । स्थायी भाव की मनोवैज्ञानिक स्थिति क्या है ? संस्कृत साहित्य शास्त्र के अनुसार स्थायी भाव की विशेषताएँ हैं

१ स्थायी भाव (अपेक्षाकृत) स्थिर है ।

२ स्थायी भाव अपेक्षाकृत पुष्ट है ।

३ और इसीलिए वही रस दशा को प्राप्त हो सकता है, संचारी नहीं ।

बयालीस भावों में से ये विशेषताएँ केवल नौ में ही हैं और इसीलिए शेष तैंतीस से उनको पृथक करके स्थायी भाव का गौरव प्रदान कर दिया गया है ।

मनोविज्ञान में मनोविकार या भाव के केवल तीन रूप ही माने गए हैं

१ मौलिक मनोविकार (Primary Emotion)—जो स्वतन्त्र, अमिश्र और एक होता है, जैसे—भय ।

२ व्युत्पन्न मनोविकार (Derived Emotion)—जो स्वतन्त्र न होकर किसी अन्य मनोविकार के आश्रित रहता है जैसे—आशंका ।

३ मनोवृत्ति (Sentiment)—जो मनोविकारों के मिश्रण, उनकी पुनरावृत्ति और क्रमशः बौद्धिक तत्त्व के समावेश द्वारा निर्मित एक स्थिर मनोदशा है, जैसे कर्तव्य ।

अब आप देखें कि स्थायी भाव को हम एक साथ ही शुद्ध मौलिक मनोविकार नहीं कह सकते । उदाहरण के लिए, निर्वेद या शम एक शुद्ध मनोविकार

---

[1] Emotion is a fleeting experience Sentiment is an acquired disposition, one gradually built up through many emotional experiences and activities, is it an organization (or a part of total organization)

नही ह। एक से अधिक मनाविकारा का सम्मिश्रण और बौद्धिक तत्त्व का प्राधान्य होन के कारण वह एक व्यवस्थित मनादशा ही है। अदभुत रस का स्थायी विस्मय भी स्पष्टत ही एक मिश्र भाव है। व्युत्पन्न मनाविकार का भी प्रश्न नही उठता, क्योकि इनम से सभी व्युत्पन्न नही हैं। भय, क्रोध, आदि स्पष्टत ही मौलिक हैं। अब रह जाती है मनोवृत्ति—तो स्थूलत स्थायी भाव मनोवृत्ति के बहुत कुछ समरूप होता हुआ भी अन्तत उससे भिन्न है।

समता—१ मनोवृत्ति की भाँति स्थायी भाव भी अन्य (सचारी) भावा की अपेक्षा स्थायी होता है।

२ मनोवृत्ति की ही भाति स्थायी भाव एक मनादशा है, जिसम अन्य भाव सचरण करत रहते ह।

विषमता—परन्तु दोना म कुछ मौलिक अन्तर भी है

१ मनावत्ति एक व्याप्त मन स्थिति मात्र है, जिसके समग्र रूप का अनुभव कभी नही हो सकता। मनोवृत्ति के सचारी का ही आस्वादन हो सकता है, मनावत्ति स्वय का नही। उदाहरण के लिए देश भक्ति का आस्वादन कभी नही होता, उसके आश्रित या सचारी भाव उत्साह आदि का ही होता है, परन्तु स्थायी के विषय मे यह बात नही ह, उसका सचारी ही नही वह स्वय भी समग्रत आस्वाद्य है। क्लैव्य मनाविकार का कारण है स्वय मनोविकार नही है, परन्तु भय स्वय ही मनोविकार है।

२ मनोवृत्ति सदैव ही मनोविकार की आवृत्ति से बन जाती ह परन्तु स्थायी भाव के विषय मे यह सत्य नही है रूप की आवत्ति करत रहिए, पर वह रति नही बन पाएगा।

३ मनोवत्ति सदैव विचारमूलक है परन्तु स्थायी भाव (शम का छोडकर) विचारमूलक नही—प्रवृत्तिमूलक ही है।

इस प्रकार स्वीकृत रूप म तो साहित्य शास्त्र के स्थायी भाव स्वरूप और विवचन आधुनिक मनाविज्ञान की परिभाषाओ म पूरी तरह नही घट पाता, परन्तु फिर भी वह अमनावैज्ञानिक नही है। उसकी भी अपनी सगति है। आरम्भ मे शायद उपलब्ध साहित्य के पर्यालाचन द्वारा उदगमन की विधि स स्थायी सचारी का वर्गीकरण हुआ हो, परन्तु बाद म आचार्यो न मीमासा आदि के बल पर अतिव्याप्ति और अव्याप्ति का बचाकर इन्ही की व्यापकता सिद्ध करते हुए अपने वर्गीकरण का निर्दोष बनाने का सवथा स्तुत्य प्रयत्न किया है। उनकी स्थापना आज इस रूप मे सामने रखी जा सकती है

१ मानव हृदय म उठने वाली तरगो के योग से जो विभिन्न मनोविकार

बनते है उनकी सख्या बयालीस ठहरती ह। य मनाविकार शुद्ध, मिश्र, व्युत्पन्न, मन्द, तीव्र, अस्थायी, स्थायी सभी प्रकार के ह। इनम से केवल रति, हास्य, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद य नौ मनाविकार एसे है जा औरा की अपक्षा अधिक स्थायी, अधिक प्रभावशाली और पुष्ट हान के कारण रस परिपाक के याग्य ह, अतएव इनका विशेष महत्त्व दिया गया ह और पारिभाषिक शब्दावली म स्थायी की सज्ञा दे दी गइ है।

२ इस प्रकार के अर्थात् रस मे परिणत हाने याग्य भाव केवल नौ ही ह—अन्य भाव या ता इन्ही क अन्तभूत हो जात ह, जैस दानशीलता, धम प्रेम आदि भाव उत्साह के अन्तगत आ जाते ह (आज क गाधी की अहिंसा और जवाहरलाल की देशभक्ति, भगतसिंह का आतकवाद तथा राहुल साकृत्यायन की साम्यवाद के प्रति निष्ठा भी स्पष्टत उत्साह के ही अन्तगत आ जायग), और या फिर रस दशा तक पहुँचन म असमथ रहने क कारण स्थायी पद के अधिकारी नही बन पात—उदाहरण के लिए (शास्त्र क अनुसार) 'वात्सल्य' या देवादि विषयक रति भाव ही है—'स्थायी भाव नही ह।

यहाँ दा प्रश्न उठन है

१ क्या स्थायी और सचारी का यह भेद मनोविज्ञान की दृष्टि से उचित है ?

२ क्या स्थायियो की सख्या नौ ही हा सकती है और सचारिया की ततीस ही ? पहल प्रश्न का उत्तर ता उपयुक्त विवेचन मे ही दिया जा चुका है कि मनाविज्ञान म इस प्रकार का वग विभाजन नही मिलता। वहा तो दा ही प्रकार का वर्गीकरण स्वीकृत है। एक मौलिक (शुद्ध) आर व्युत्पन्न मनाविकार का, दूसरा मनाविकार और मनावृत्ति का। स्थायित्व तीव्रता और प्रभाव के आधार पर मनोविज्ञान वर्गीकरण नही करता।

मनोविज्ञान विज्ञान है जा उपयागी और अनुपयागी, सुन्दर आर असुन्दर, साधु और असाधु, तीव्र और मन्द के आधार पर वर्गीकरण नही करता। परन्तु फिर भी जीवन मे इस प्रकार का भेद और विभाजन ता ह ही, और रहगा भी। विज्ञान इस पचडे मे नही पडता, क्योकि यह सब उसकी परिधि स बाहर है परन्तु जब जीवनगत उपयोग का प्रश्न आता है, ता इसका निषेध कैसे किया जा सकता है ? इसी प्रकार भाव-क्षत्र मे भी एक दूसरे की अपक्षा अधिक स्वस्थ और कामल है—अर्थात् तीव्र एव स्थायी ह, अथवा अधिक प्रभावशाली है, यह मानने म कोई विशेष कठिनाई नही होनी चाहिए। मनोविज्ञान इसका विवेचन नही करता, परन्तु साहित्य के लिए इसका सम्बन्ध

भाव के जीवनगत उपयोग में है, इस प्रकार का वर्गीकरण सर्वथा स्वाभाविक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नैतिक मूल्य के आधार पर स्थायी भावों का औचित्य निर्धारित किया है। यह भी एक दृष्टिकोण है, परन्तु जीवन के अधिक व्यापक दृष्टिकोण में भी इसका समाधान किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, चिन्ता की अपेक्षा शोक अधिक तीव्र है—चिन्ता का तीव्रतम चित्रण शोक के तीव्रतम चित्रण की अपेक्षा क्षीण ही रहेगा। इसी प्रकार चिन्ता की अपेक्षा शोक में स्थायित्व भी स्पष्टतः अधिक है—शोक में चिन्ता निमग्न हो जाती है, परन्तु चिन्ता में शोक निमग्न नहीं हो सकता। चिन्ता की अपेक्षा शोक वास्तव में अधिक व्यापक है ही। जो भाव अधिक तीव्र, अधिक स्थायी और अधिक व्यापक है वह निश्चय ही अधिक प्रभावशाली भी होगा। यही गर्व और उत्साह, शंका और भय अथवा इसी प्रकार के अन्य भावों के विषय में भी कहा जा सकता है।

संक्षेप में, यद्यपि आधुनिक मनोविज्ञान में इस प्रकार का विभाजन नहीं मिलता परन्तु फिर भी हम इसे मिथ्या एवं अमनोवैज्ञानिक नहीं कह सकते। स्थायी भाव की स्थिति वास्तव में जीवन के उन तीव्र और व्यापक मनोविकारों की है, जो मानव-स्वभाव के मूल अंग हैं। पाश्चात्य दर्शन में जिन्हें साधारणतः मौलिक मनोवेग (Elemental Passions) कहा गया है। इन मनोवेगों का सीधा सम्बन्ध मानव-आत्मा के मूलभूत गुण-द्वेष से है। आत्मा की प्राथमिक अभिव्यक्ति है अस्मिता—अहंकार जिसे आज के मनोविश्लेषण ने अहं (ego) या आत्माभिव्यक्ति (self expression) के रूप में निर्विरोध स्वीकार कर लिया है। अहंकार की अभिव्यक्ति की दो सारणियाँ हैं : राग और द्वेष जो मानव जीवन के दो मौलिक अनुभवों, सुख और दुःख के वैज्ञानिक पर्याय मात्र हैं—'सुखानुशयी रागः दुःखानुशयी द्वेषः'। आधुनिक मनोविश्लेषण शास्त्र में इन्हें ही प्रेम करने की प्रवृत्ति (Libido) और नाश करने की प्रवृत्ति (Thanatos) कहा गया है। और गहरे में जाएँ तो फ्रायड का 'काम' मूलतः राग ही है, और एडलर का हीन भाव द्वेष। आधुनिक मनोविश्लेषकों के इस विषय में तीन मत हैं—एक फ्रायड का, जो काम को जीवन की मूल वृत्ति मानता है, दूसरा एडलर का जो हीन भाव या क्षति पूर्ति को लेकर चलता है, और तीसरा युग का जो इन दोनों को जीवनेच्छा (या स्वत्व रक्षा)—हमारे शास्त्र में अस्मिता—के पोषण की शाखाएँ मानता हुआ उसी को मूल मानता है। आज यही सिद्धान्त सामान्यतः स्वीकृत है।

उत्तम सम और अधम के आधार पर राग प्रश्रय प्रेम और करुणा का रूप धारण कर लेता है और द्वेष भय, क्रोध और घृणा का। इस प्रकार भाव-जगत

का विस्तार होता है। जैसा कि डॉ० भगवानदास ने अत्यन्त मौलिक ढग से प्रदर्शित किया है, सस्कृत साहित्य के सभी स्थायी भावो का इन्ही मूल भावो के अन्तगत समाहार हो जाता है। रति, हास उत्साह और विस्मय साधारणत अस्मिता के उपकारक होने के कारण राग के अन्तगत आ जाते है, और शोक, क्रोध, भय और जुगुप्सा, अस्मिता के अपकारक होने के कारण द्वेष के अन्तगत। निर्वेद मे इन दोनो का सामजस्य हो जाता है। उसमे अस्मिता की समरसता की अवस्था होती है। पहले चार भाव मधुर होने के कारण सुख की अभिव्यक्ति है, दूसरे कटु होने के कारण दुःख की। निर्वेद मे दोनो का समन्वय है। कहने की आवश्यकता नही कि यह विभाजन आत्यन्तिक नही है—तत्त्वत तो कोई भी प्रवृत्ति न तो शुद्ध राग हो सकती है और न अमिश्रित द्वेष। वास्तव मे जैसा कि मनोविश्लेषक कहता है राग और द्वेष (Libido and Thanatos) के सघर्ष से ही हमारा मानसिक जीवन (Psychic Life) सचालित है। इसीलिए यदि उत्साह के युयुत्सा रूप मे आपको द्वेष का अश मिले या शोक मे राग का तो चौकना नही चाहिए या तो स्वय रति भी शुद्ध राग नही है।

रसों और भावो की सख्या—अब दूसरे प्रश्न को लीजिए। यह मान लेने पर कि स्थायी भावो की स्थिति जीवन के मूल मनोवेगा (Elemental Passions) की स्थिति से अभिन्न है और इस प्रकार के विभाजन का एक सूक्ष्म आधार भी है ही जो अमनोवैज्ञानिक नही है एक और प्रश्न उठता है कि क्या जीवन के मूल मनोवेग नौ ही है अर्थात क्या मनोभावो की सख्या नौ ही है कम-अधिक नही? यह प्रश्न सस्कृत साहित्य शास्त्र मे अनेक बार उठा है। स्थायी भावो को बढाने घटाने का प्रयत्न हुआ है, उनकी प्रधानता अप्रधानता का विवेचन हुआ है—उन सभी को केवल एक मूल स्थायी भाव के अन्तर्भूत करने की चेष्टा की गई है परन्तु अन्त मे परिणाम यही निकला है कि स्थायी भावो की सख्या नौ ही है और नौ ही होनी चाहिए। भरत ने मूलत आठ ही रस और तदनुसार आठ ही स्थायी भाव माने है, उनमे भी शृगार, वीर, रौद्र और वीभत्स तदनुसार रति, उत्साह क्रोध और जुगुप्सा को प्रधान और मौलिक माना है, और हास्य करुण, भयानक तथा अदभुत तदनुसार हास, शोक भय तथा विस्मय को गौण एव व्युत्पन्न माना है। उन्होने—

शृगार से हास्य—तदनुसार रति से हास,	
वीर से अद्भुत— „	उत्साह से विस्मय,
रौद्र से करुण—	क्रोध से शोक
वीभत्स से भयानक— „	जुगुप्सा से भय

की उत्पत्ति मानी है, परन्तु परवर्ती आचार्यों ने उसे स्वीकृत नही किया। बाद में 'शान्तोऽपि नवमो रस' कहकर शान्त भी जोड दिया गया। पहले पण्डितो का मत था कि शान्त की उदभावना उदभट ने की, परन्तु आज प्राय अभिनय के आधार पर भरत को ही इसका श्रेय दिया जाता है। इसके उपरान्त रसो और स्थायी भावो की सख्या को बढाने के अनेक प्रयत्न हुए जिनमे सबसे महत्त्वपूर्ण दो है—१ विश्वनाथ द्वारा वत्सल रस और वात्सल्य स्थायी की प्रतिष्ठा। २ भक्त आचार्यों विशेषकर रूपगोस्वामी द्वारा भक्ति रस और भगवत रति स्थायी की प्रतिष्ठा।

परन्तु पण्डितराज जगन्नाथ और उनके बाद के आचार्यों ने इन उदभावनाओ का निषेध किया। पण्डितराज ने तो वीर के भी युद्ध वीर आदि अन्तर्विभाजन को निरथक घोषित किया, क्योकि इस प्रकार तो पाण्डित्यवीर आदि के अनेक अवान्तर भेद होते जायेंगे।[1] इस परम्परा दृढ पण्डितो ने वात्सल्य और भक्ति को रस परिणति के अयोग्य ठहराकर 'भाव मात्र ही माना। इसमे सन्देह नही कि साधारण व्यक्ति के लिए स्वादि विषयक रति भाव की स्थिति से आगे नही बढ पाती क्योकि उसका आलम्बन परोक्ष एव अमूत है, परन्तु यह मनोविकार रस परिणति मे असमथ है एकदम ऐसा कहना अनुचित होगा। मीरा सूर तुलसी की भक्ति रस दशा को प्राप्त नही कर सकी थी यह कहना तो सत्य का तिरस्कार करना है लेकिन हाँ, इनकी भक्ति को उनकी अन्त प्रेरणा के अनुसार स्थूलत रति या निर्वेद के अन्तर्भूत किया जा सकता है। मीरा की माधुर्य भावना रति का ही परिष्कृत रूप है। सूर और तुलसी का कापण्य निर्वेद का। इसके अतिरिक्त जहाँ इन्होने प्रत्यक्ष आत्म निवेदन किया है—वहा भी कही तो स्पष्ट ही रति का परिपाक मिलता है, जैसे—सूर के अनेक पदो मे, जिनमे कृष्ण की रूपमाधुरी का अकन किया गया है और कही स्पष्ट निर्वेद का, जैसे—तुलसी के बहुत-से पदो मे, जहा ससार की असारता और कराल कलि काल से उसकी रक्षा आदि के लिए प्राथना की गई है। शेष कुछ ऐसे पद रह जाते है, जिनमे प्रश्रय आदि 'भाव'

---

[1] वस्तुतस्तु बहवो वीररसस्य शृगारस्येव प्रकारा निरूपयितु शक्यन्ते। तथा हि—प्राचीन एव 'सपदि विलयमेतु' इत्यादि पद्ये 'मम तु मतिन मनागपैतु सत्यात्' इति चरमपादप्रत्ययेन पद्यान्तरता प्रापिते सत्यवीरस्यापि सभवात्। न च सत्यस्यापि धर्मान्तर्गततया धर्मवीररस एव तत्रास्याप्यन्तर्भाव इति वाच्यम्। दानदययोरपि तदन्तर्गततया तद्वीरयोरपि धर्मवीरात् पृथग्गणना नौचित्यात्। एव पाण्डित्यवीरोऽपि प्रतीयते।

—रसगगाधर (जगन्नाथ), काव्यमाला सस्करण, पृष्ठ ४०

ही मानना पडेगा। इस प्रकार भक्ति को रस के योग्य मानते हुए भी उसका अन्तर्भाव इन्ही निर्णीत स्थायी भावो मे रह जाता है। जहा राग का प्राचुर्य है वहा रति जहा विराग का प्राधान्य है वहा निर्वेद माना जा सकता है। वसे भी आज के मनोविश्लेषको ने धर्म भावना को काम का उन्नयन ही माना है। परन्तु वात्सल्य को रस-परिणति के अयोग्य मानना बहुत ज्यादती होगी। क्योकि वात्सल्य भाव का सम्बन्ध तो जीवन की एक सर्वप्रधान एषणा—पुत्रैषणा—से है। विदेश के सभी मनोवैज्ञानिको ने भी मातृ वृत्ति को एक अत्यन्त मौलिक एव प्रधान वृत्ति माना है। वात्सल्य मानव जीवन की एक बहुत बडी भूख है जो तीव्रता और प्रभाव की दृष्टि से केवल काम से ही न्यून कही जा सकती है। दूसरे, जब तक रति का फ्रायड के ढग पर विस्तार न किया जाय, वात्सल्य का रति के अन्तर्गत भी नही माना जा सकता। सूर के वात्सल्य-चित्रो का क्या रस का अधिकारी नही माना जायगा, या उनको शृगार के अन्तर्गत रख दिया जायगा? रति का काम से असम्पृक्त भी एक रूप हो सकता है, जसे मैत्री, जिसका ध्यान मे रखकर ही रुद्रट ने 'प्रेयान' रस का आविष्कार किया था। परन्तु वास्तव मे मैत्री शुद्ध भाव न होकर एक मनोवृत्ति है, जिसमे अनेक भावो का सम्मिश्रण रहता है। साधारणत यह भाव रस दशा को नही पहुँच पाता—वृत्तियो का पूर्ण सामजस्य और निलय केवल मित्र भाव के कारण नही हो पाता, जहा कही होता है वहा उसमे काम या उत्साह जैसे किसी प्रगाढ मनोवेग का प्राधान्य रहता है।

पाश्चात्य साहित्य शास्त्र मे रस—पाश्चात्य साहित्य शास्त्र मे अरस्तू आदि ने मनोवेग के अर्थ मे सेण्टीमेण्ट (Sentiment) शब्द का प्रयोग किया है और साधारणत काव्यगत मनोवेगो को सुन्दर (Beautiful), उदात्त (Sublime), करुण (Pathetic) और हास्यमय (Humorous)—इन चार रूपो मे विभक्त किया है। यह वर्गीकरण अपेक्षाकृत अपूर्ण है। सौन्दय भाव वास्तव मे निरपेक्ष मनोविकार नही है। वह हर्ष, रति, विस्मय का ही एक रूप है। किसी सुन्दर वस्तु को देखकर यदि हमारी वृत्तियो मे सामजस्य मात्र ही स्थापित होता है तो प्रतिक्रिया हर्ष है यदि उसके प्रति स्थायी आकर्षण उत्पन्न हो जाता है तो रति हो जायगी और यदि उसको देखकर चित्त चमत्कृत होता है तो वह प्रतिक्रिया विस्मय कहलायगी। इन तीनो या इसी प्रकार के किसी निश्चित भाव से या उनके मिश्ररूप मे पृथक् सौन्दर्य भावना का कोई अस्तित्व नही है। सौन्दय भावना जिस प्रकार अधिकतर हर्ष, रति और विस्मय का योग है उदात्त भावना उसी प्रकार आश्रय मे हर्ष, भय और विस्मय

का योग है, और आलम्बन म रूप और उत्साह का । वह भी निरपेक्ष भाव नहीं है । उसे स्थिति के अनुसार सस्कृत का रस शास्त्र अपने अद्भुत और वीर म अन्तर्भूत कर सकता है । 'गीता मे कृष्ण का विराट रूप अदभुत के अन्तगत आयगा, रामायण' म दिग्विजयी राम का रूप वीर के अन्तगत । यद्यपि यह मानने म आपत्ति करना हठधर्मी होगी कि अद्भुत और वीर की अपेक्षा उन दोनो को ही उदात्त या महान कहना अधिक सगत होगा, परन्तु इसका तात्पय केवल यही है कि उदात्त शब्द अधिक सचित्र तो है, पर वैज्ञानिक नही है। शेष दो करुण और हास्य तो पाश्चात्य और पौरस्त्य दोनो शास्त्रो मे एक ही है ।

मूल प्रवृत्तियाँ और प्रवृत्तिगत भाव—आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने जीव की मूल प्रवत्तियो का अन्वेषण करके स्थूलत उनकी सख्या निश्चित करने का प्रयत्न किया है (ये प्रवृत्तियो मानव और मानवेतर प्राणियो मे समान रूप से विद्यमान है) परन्तु इन वैज्ञानिको के निणय एक स्वर नही ह । इसका प्रत्यक्ष कारण यही है कि मानव मन एक गहन समुद्र है, जिसकी तरंगो अथवा वीचियो की निश्चित गणना करना साधारणत सम्भव नही है । मैक्डूगल महोदय ने प्रवत्तियो और उनसे सम्बद्ध मनोविकारो का वणन इस प्रकार किया है

प्रवृत्ति	प्रवृत्तिगत भाव
१ भोजनोपाजन (भोजन अजन करने की प्रवृत्ति)	क्षुधा
२ अपकषण (किसी वस्तु को त्यागने अथवा उससे हटने की प्रवृत्ति)	घृणा (जुगुप्सा)
३ काम (प्रेम और यौन सम्बन्ध स्थापित करने की प्रवत्ति)	रति
४ भय (दु खदायी वस्तु से बचकर भागने या शरण लेने की प्रवत्ति)	भय
५ जिज्ञासा (नवीन और अदभुत वस्तुओ के अन्वेषण की प्रवत्ति)	औत्सुक्य
६ सामाजिकता (सजातीय व्यक्तियो का साहचय-लाभ करने की प्रवत्ति)	मिलनेच्छा (सहानुभूति)
७ मातृ भावना (अपत्य स्नेह) बच्चो का सरक्षण करने की प्रवृत्ति)	वात्सल्य
८ आत्म प्रतिष्ठा (अपने व्यक्तित्व को प्रदर्शित करने दूसरे पर रौब जमाने की प्रवृत्ति)	गव (अहकार)

९ अधीनता (अपने से अधिक बलवान के प्रति आदर, प्रश्रय, अधीनता आदि की प्रवृत्ति)	दैन्य (कापण्य)
१० क्रोध (बाधा और विघ्न अथवा विरोध को छिन्न भिन्न कर देने की प्रवृत्ति)	क्रोध
११ आत्तप्राथना (स्वय विफल एव निराश हो जाने पर दूसरो की सहायता मॉंगने की प्रवृत्ति)	दु ख कातरता (distress)
१२ निर्माण (आवश्यक आच्छादन आदि के निर्माण करने की प्रवृत्ति)	सृजनोत्साह
१३ परिग्रह (वाछित वस्तुओ का प्राप्त करने और उन पर अपना अधिकार करने की प्रवृत्ति)	अधिकार भावना
१४ हास्य (दूसरा के दोषो और विकृतियो पर हँसने की प्रवृत्ति)	हास

पहले मैकड्गल ने ये १४ ही प्रवृत्तिया मानी थी परन्तु बाद मे चार और जोड दी

आराम (Comfort)—एसे स्थान की खोज करना, जहा शरीर को सुख मिले।

निद्रा—विश्राम अथवा निद्रा की पवृत्ति।

भ्रमण—नवीन स्थानो मे भ्रमण करने की प्रवृत्ति।

कफ छीक, श्वास प्रश्वास, मोचन आदि।

इनका सम्बन्ध स्पष्टत शारीरिक क्रियाओ से अधिक है अतएव इनका सहकारी मनोविकार या मन स्थिति बहुत स्पष्ट एव विशिष्ट नही होती। निदान ये हमारे विशेष उपयोग की नही है। उपयुक्त चौदह प्रवृत्तिमूलक मनोविकारो मे भी क्षुधा सवथा शारीरिक है अतएव काव्य म उसके विशेष उपयोग की आशा करना व्यथ है। इसके अतिरिक्त शेष तेरह भी आप देखिए अतिव्याप्ति और अव्याप्ति से मुक्त नही है। वे स्पष्टत एक दूसरे की सीमा रेखा का अतिक्रमण कर जाते है। उदाहरण के लिए, सृजनोत्साह और अधिकार-भावना अहकार की परिधि मे ही आ जाते है। कापण्य और कातरता भी एक-दूसरे से बहुत भिन्न नही हैं। वास्तव म वे एक ही प्रवृत्ति की दो अभिव्यक्तियाँ हैं। इस प्रकार पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार भी प्रवृत्तिमूलक मनोविकार साधारणत दस ही हुए। रति, हास, क्रोध, भय, घृणा (जुगुप्सा), औत्सुक्य, वात्सल्य, अहकार, कापण्य, सहानुभूति (सगच्छा)। इनमे पहले सात तो सस्कृत स्थायी भावो स प्राय अभिन्न ही हैं। अहकार

और उत्साह में भी कोई विशेष अन्तर नहीं है। कार्पण्य को भी कुछ आचार्यों ने स्थायी भाव माना है, परन्तु वात्सल्य में सर्वतन्त्र मत यही रहा है कि भाव में अधिक उसकी स्थिति नहीं होती। यही बात जुगुप्सा के लिए और भी निश्चय के साथ कही जा सकती है। अब संस्कृत साहित्य शास्त्र का एक स्थायी भाव रह जाता है—शोक। क्या कार्पण्य और सहानुभूति दोनों शोक (करुण) के तत्त्व नहीं माने जा सकते?

उपर्युक्त विवेचन से मेरा अभिप्राय संस्कृत के नौ रसों की सार्वभौमिकता स्थापित करना न होकर केवल यही संकेत करना है कि हमारा यह वर्गीकरण सर्वथा अनर्गल और कपोल कल्पित नहीं है। स्थायी भाव की स्थिति पौरस्त्य और पाश्चात्य मनोविज्ञान के प्रतिकूल नहीं है और संख्या निर्धारण भी सर्वथा निराधार नहीं है, यद्यपि यह भी ठीक ही है कि वह सर्वथा निर्दोष भी नहीं है। परन्तु क्या कोई भी वर्गीकरण और संख्या निर्धारण निर्दोष हो सकता है?

संचारियों की स्थिति अपेक्षाकृत निर्बल है। इसके दो प्रत्यक्ष कारण हैं—एक तो इन तैंतीस संचारियों में कुछ स्पष्टतः ऐसे हैं जो शारीरिक क्रियाएँ ही अधिक हैं, मानसिक विकार उनमें गौण होता है। उदाहरण के लिए अपस्मार, निद्रा आदि। स्वप्न और मरण को भी भाव कहना निश्चय ही असंगत होगा। दूसरे हमारे नित्य प्रति के अनुभव में और भी अनेक ऐसे भाव आते हैं जिनकी स्थिति इन तैंतीस से बाहर है। संस्कृत आचार्य के सम्मुख भी यह प्रश्न आया है मात्सर्य, उद्वेग, दम्भ विवेक, निर्णय, क्षमा, उत्कण्ठा और माधुर्य आदि भाव उसके सामने आए हैं, परन्तु उसने उन सभी का इन्हीं में अन्तर्भाव कर दिया है जैसे मात्सर्य का असूया में उद्वेग का त्रास में, दम्भ का अवहित्थ में, ईर्ष्या का अमर्ष में, क्षमा का धृति में, उत्कण्ठा का औत्सुक्य में। परन्तु आज इसमें सन्तोष नहीं होता। इस तरह तो धृति का मति में, विषाद का चिन्ता में अन्तर्भाव भी माना जा सकता है। पौरस्त्य मीमांसा के अनुसार भी अनेक मनोविकार ऐसे हैं जो इनकी परिधि से बाहर हैं। उदाहरण के लिए—आदर, श्रद्धा, पूजा आदि प्रश्रय के विभिन्न रूप अथवा औदार्य, दया स्नेह आदि अनुकम्पा के अन्तर्भेद या फिर द्वेष पक्ष में असन्ताप, अवमान अविश्वास आदि को लिया जा सकता है। डाक्टर भगवानदास ने पौरस्त्य विचार शास्त्र के अनुसार ही ६४ मनोविकारों की गणना की है जिनमें उपर्युक्त सभी तथा उनके अतिरिक्त और भी कई मनोविकार संस्कृत साहित्य शास्त्र के तैंतीस या बयालीस संचारियों की परिधि से बाहर पड़ते हैं। वास्तव में, जैसा प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक जेम्स ने कहा है मनोविकारों की गणना करना तथा उनका

पृथक रूप मे वर्णन करना केवल कठिन ही नही असम्भव भी है, क्योकि मनोविकार तो मन की वस्तु के प्रति प्रतिक्रिया है, जो प्रत्येक वस्तु के साथ बदलती रहती है। मन म असख्य तरगें उठती हैं, जो एक-दूसर से अनेक रूपा मे मिलकर न जाने कितने मनोविकारो का आविर्भाव करती है। साधारणत मौलिक मनोविकारा की गणना करना ही अत्यन्त कठिन है, फिर मिश्र और व्युत्पन्न मनोविकारो का तो अन्त ही कहा है ?

अन्त मे मेर निष्कष ये है

१ आरम्भ मे तो सस्कृत साहित्य शास्त्र के स्थायी भावो का वर्गीकरण और विवेचन उपलब्ध साहित्य क आधार पर किया गया था, परन्तु बाद मे दार्शनिक आचार्यों ने मीमासा आदि के बल पर उन्ह व्यापक बनाते हुए वैज्ञानिक रूप दे दिया है।

२ आधुनिक मनोविज्ञान के सवथा अनुकूल न होत हुए भी यह विवेचन अमनोवैज्ञानिक और असगल नही है। पौरस्त्य और पाश्चात्य मन शास्त्रो की कसौटी पर बहुत अशा म खरा उतरता है। सचारी तो मनोविकार का पर्याय ही है। स्थायी भाव की स्थिति मौलिक मनोवेगा की है, जो अपनी शक्ति स्थायित्व और प्रभाव के कारण मानव-जीवन की सचालक एव प्रेरक वृत्तियाँ है।

३ इन मनोवेगा की सख्या निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। यह देखते हुए भी कि सस्कृत के आचार्यों ने अपने नौ स्थायियो के अन्तर्गत ही सब सशक्त मनोवेगा का समाहार कर दिया है, इस सख्या को सवथा निर्दोष और पूर्ण नही माना जा सकता। वात्सल्य को रति से पृथक स्थान देना ही होगा। करुण की परिधि म भी शोक के अतिरिक्त अनुकम्पा, कापण्य आदि का समावेश करना होगा। रुद्रट ने तो सभी सचारियो के लिए ऐसा कहा है, परन्तु कम से-कम कुछ एक मे (जैसे गर्व, ग्लानि, असूया आदि मे) रस परिणति की क्षमता अवश्य माननी पडेगी। इस प्रकार साधारण शोधन, परिशोधन और विशेष व्याख्या के द्वारा स्थायी की स्थिति बहुत कुछ वैज्ञानिक बन सकती है।

सचारियो का वर्णन और विवेचन स्पष्टत अपूर्ण और सदोष है। उनमे मे एसे सचारी भावो को तो निकालना ही पडेगा जो मुख्यत शरीर के धर्म हैं। इसके अतिरिक्त गणना का प्रयत्न करना व्यर्थ होगा। आलोचक अधिक से-अधिक यही कर सकता है कि जिन मनोविकारा का नाम और परिभाषा दे दी गई है उनका काव्य सामग्री के विश्लेषण म मनोविज्ञान के अनुकूल उपयोग कर ले। बस, इससे आगे और कुछ उसके लिए सम्भव नही है।

अलकार-सम्प्रदाय

अलकार निरूपण

अलकार का भी सबसे पूव उल्लेख भरत के 'नाट्य शास्त्र' मे ही मिलता है। भरत ने केवल चार अलकारा का ही निरूपण किया है—और वह भी रूपक के सम्बन्ध से ही। अलकार का सबसे प्रथम ग्रथ, जिसमे उसका क्रम वद्ध वैज्ञानिक विवेचन उपस्थित किया गया है भामह का 'काव्यालकार' है। भरत के उपरान्त रस रूपक का ही मुख्य अग माना जाने लगा था, काव्य म उक्ति का चमत्कार ही मुख्य था। भामह ने इसी मत का प्रतिनिधित्व किया। उसने दृश्य काव्य की सवथा उपेक्षा करते हुए केवल श्रव्य काव्य के अगा का—प्रधानत अलकारो का ही व्याख्यान किया है। परन्तु भामह का विवेचन इतना व्यवस्थित और पूण है कि उसका अलकार शास्त्र का एक साथ पहला ग्रथ मान लेना उचित नही प्रतीत होता। अलकार की परम्परा भी रस परम्परा की तरह एक क्रमिक विकास का ही परिणाम हो सकती है। और भामह ने स्वय भी अपने पूववर्ती मेधाविन आदि का सादर उल्लेख किया है। अनुमानत अलकार-परम्परा का विकास धीरे धीरे तभी से हो रहा था जब से पण्डितो ने भाषा की सूक्ष्म परीक्षा आरम्भ कर दी थी—मेधाविन इसी विकास पथ का कोइ प्रमुख माग चिह्न था।

मेधाविन केवल नामशेष है, अतएव उन्होने कितने अलकारा का विवचन किया है यह अज्ञात है। भरत ने प्रसगवश केवल चार अलकारा का उल्लेख किया है—उपमा रूपक दीपक और यमक। यह तो सवथा स्पष्ट ही है कि भरत ने अलकारा को वाचिक अभिनय का एक साधारण अग ही माना है। नाट्य शास्त्र' के बाद दूसरा ग्रन्थ 'भट्टिकाव्य' है, जिसके दशम सग म यमक अनुप्रास सहित ३८ अलकारा का उल्लेख है। भामह ने भी अलकारा की सख्या ३८ मानी है और वक्रोक्ति को उन सबका प्राण माना है। उन्होने अलकार को ही काव्य का प्रधान अग माना है और इसका प्रमाण यह है कि उन्होने रस और भाव का स्वतन्त्र अस्तित्व न मानकर उनका रसवत ऊजस्वित आदि अलकारा म ही अन्तर्भाव किया है। इस प्रकार उनके अनुसार काव्य का प्राण है अलकार और अलकार का प्राण है वक्रोक्ति

सषा सर्वेव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्या कविना काय कोऽलकारोऽनया विना॥ काव्यालकार २।८५

इसी दृष्टि से सूक्ष्म, हेतु और लेश को उन्होने अलकार सीमा से बहिष्कृत कर दिया है।

वक्रोक्ति का अथ है शब्द और अथ की विचित्रता। इस प्रकार भामह के अनुसार अलकार शब्द और अथ के वैचित्र्य का नाम है

वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलकृति । काव्यालकार १।३६

भामह के उपरात दण्डी ने अलकार के विवचन को और स्पष्ट तथा समृद्ध किया। उन्होंने काव्य को अलकार का शोभाकर धम माना, अर्थात उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि काव्य की शोभा सवथा अलकार के आश्रित है, अतएव अलकार काव्य का शाश्वत धम है। दण्डी ने उनकी सख्या ३५ मानी है, भामह के कुछ अलकार भेदो को (जैसे उपमेयोपमा, प्रतिवस्तूपमा, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षावयव आदि को) उन्होंने छोड दिया है। इसके विपरीत लेश, सूक्ष्म और हेतु को, जिन्हें भामह ने वक्रोक्ति के अभाव म अलकार की पदवी नही दी थी, दण्डी ने स्वीकृत किया है और साथ ही यमक, चित्रबध और प्रहेलिका आदि का विस्तृत विवेचन करते हुए शब्दालकार को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व तथा विस्तार दिया है। दण्डी ने भामह की वक्रोक्ति के स्थान पर अतिशय को अलकार की आत्मा माना है।

अलकारान्तराणामप्येकमाहु परायणम।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम ॥ काव्यादश २।२२०

परन्तु वास्तव म दोनो के आशय म केवल शब्द भेद है—वक्रोक्ति से भामह का तात्पय भी अतिशय उक्ति से ही है। जैसा कि परवर्ती आचार्यों ने स्पष्ट किया है **'एव चातिशयोक्तिरिति वक्रोक्तिरिति पर्याय इति बोध्यम'—और दोनो का अथ है लोकोत्तर चमत्कार 'लोकोत्तरेण चवातिशय × × × अनया अतिशयोक्तया विचित्रया भाव्यते।**[1] भामह की अपेक्षा दण्डी की दृष्टि अधिक उदार है। उन्होंने अलकार के समकक्ष ही गुण और रीति का भी प्रतिष्ठान किया है। दण्डी के परवर्ती आचाय उदभट ने अलकार सम्प्रदाय की और भी अधिक श्री-वृद्धि की। उद्भट ने यद्यपि लक्षण निरूपण आदि म भामह का ही अनुसरण किया है—भामह विवरण नाम से उसने भामह के सिद्धान्तो की व्याख्या भी की है—परन्तु उसका विवचन इतना सूक्ष्म और समृद्ध है कि उसने भामह को एक प्रकार से आच्छादित कर लिया है। सभी परवर्ती आलकारिको ने मुक्तकण्ठ से उद्भट की महत्ता को स्वीकार किया है। सक्षप मे उदभट का आभार इस प्रकार है

१ उद्भट ने दृष्टान्त, काव्यलिंग और पुनरक्तिवदाभास की सवथा नवीन

[1] लोचन—अभिनवगुप्त

उद्भावना की, अनुप्रास के प्रभेदों में वृद्धि की, और इस प्रकार अलकारो की सख्या को ३८ से ४१ तक पहुँचा दिया।

२ श्लेष के उसने दो भेद किए—१ शब्द श्लेष, २ अर्थ श्लेष, और दोनो को अर्थालकार माना। बाद में मम्मट आदि ने इसका निषेध किया है।

३ व्याकरण के आश्रय से उपमा के अनेक प्रभेद, जिनका 'काव्य प्रकाश' में वर्णन है, सबसे पूर्व उद्भट ने ही किए।[1]

अलकार-सम्प्रदाय का सर्वप्रमुख आचार्य था रुद्रट। यद्यपि रुद्रट की दृष्टि अत्यन्त व्यापक और उदार थी और यद्यपि उसने इसकी महत्ता स्वीकार करते हुए अपने समकालीन सम्प्रदायो का समन्वय भी किया फिर भी अलकार शास्त्र ही उसका विशेष रूप से ऋणी रहेगा। रुद्रट ने एक तो अलकारो के सूक्ष्म भेद प्रभेदो का स्पष्टीकरण करके उनकी सख्या का विस्तार ५० से ऊपर कर दिया, दूसरे वास्तव, औपम्य अतिशय और श्लेष के आधार पर उनका वैज्ञानिक वर्गीकरण किया। रुद्रट का यह वर्गीकरण सर्वथा मान्य न होते हुए भी अलकार शास्त्र के लिए एक मौलिक देन थी। रस और भाव को अलकार के अन्तर्गत मानने की जो त्रुटि भामह के समय से बराबर होती आ रही थी उसका सशोधन सबसे पूर्व रुद्रट ने ही किया। उसने रसवत आदि को अलकार मानने से साफ इन्कार कर दिया और इस प्रकार एक बहुत बडे भ्रम का निवारण किया। भामह से लेकर रुद्रट तक अलकार-सम्प्रदाय का सुवर्ण काल रहा। अनेक प्रकार का मतभेद रखते हुए भी ये सभी आचार्य अलकार को ही प्रधानता देते थे। भामह और दण्डी ने गुण और अलकार मे कोई अन्तर नही माना। **'उदभटादिभिस्तु गुणालकाराणाम् प्रायश साम्यमेव सूचितम। तदेव मलकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्याना मतम ॥'** रुद्रट के उपरान्त ध्वनि सम्प्रदाय का उदय हुआ, जिसने ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुए अलकार को निम्नतर स्थान दिया। जिस काव्य मे शब्द चित्र अथवा वाच्य चित्र रूप अलकार ही हो, व्यग्यार्थ न हो वह अधम माना गया। अलकार रस और ध्वनि का सहायक होकर ही गौरव का अधिकारी हो सकता है, वह न अपने मे स्वतन्त्र है और न काव्य का अनिवार्य अग ही है। ध्वनि की स्थापना के उपरान्त संस्कृत साहित्य शास्त्र मे क्या, भारतीय साहित्य शास्त्र मे भी यही मत मान्य रहा।

इस मत की पूर्ण प्रतिष्ठा की मम्मट ने। मम्मट ने अलकार को उचित

---

[1] काणे कृत—'साहित्यदर्पण' की भूमिका

गौरव दिया। उन्होंने काव्य को सालंकार माना, परन्तु फिर भी 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' कहकर उसकी अनिवार्यता का निषेध किया। मम्मट समन्वयवादी आचार्य थे, उन्होंने प्राचीन सभी सिद्धान्तों की सम्यक् परीक्षा करते हुए काव्य पुरुष के रूपक के आधार पर उनका उचित समन्वय किया। उन्होंने गुण और अलंकार का भेद स्पष्ट किया। गुणों को काव्य का साक्षात् धर्म माना और अलंकारों को काव्य के अंगभूत शब्द और अर्थ के शोभाकारक धर्म माना।

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्ग द्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ काव्यप्रकाश ८।६७

अलंकार काव्य के अंग अर्थात् शब्दार्थ रूप शरीर की शोभा बढ़ाते हुए काव्य का उपकार करते है—चमत्कृति में योग देते हैं। काव्य में उनका स्थान वही है जो मनुष्य के व्यक्तित्व में हार आदि आभूषणों का। और स्पष्ट रूप में—"शब्द अर्थ काव्य के शरीर है और रसादिक आत्मा है। माधुर्यादि गुण शौर्यादि की भाँति, श्रुतिकटुत्वादि दोष काणत्वादि की तरह वैदर्भी आदि रीतियाँ अंगरचना के सदृश और उपमादिक अलंकार कटक कुण्डल आदि के तुल्य होते हैं।"[१]

अर्थात् अलंकार काव्य के अस्थिर धर्म है।

अलंकार के विवेचन में मम्मट ने भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट आदि पूर्वाचार्यों के मतों की परीक्षा करते हुए अनेक परिवर्तन और परिशोधन किए। अलंकारों की संख्या अब ७० हो गई। ८ शब्दालंकार और ६२ अर्थालंकार। 'इनमें अतद्गुण, माला दीपक, विनोक्ति, सामान्य, और सम ये पाँच अलंकार नवीन हैं। और सम्भवतः श्री मम्मट द्वारा आविष्कृत हैं।'

मम्मट के उपरान्त रुय्यक ने 'अलंकार सर्वस्व' की रचना की। रुय्यक ने 'विचित्र' और 'विकल्प' अलंकारों की सृष्टि की, परन्तु उसका प्रमुख कार्य था अलंकारों का वर्गीकरण। रुद्रट के वास्तव औपम्य, अतिशय और श्लेष वर्गों को अपर्याप्त मानते हुए उसने निम्नलिखित वर्गों की उद्भावना की—सादृश्य गर्भ, विरोध गर्भ, शृंखलाबद्ध, न्यायमूल, गूढार्थप्रतीतिमूल, और संकर। स्वभावोक्ति, भाविक और उदात्त को किसी वर्ग में न रखकर स्वतन्त्र माना। परवर्ती आचार्यों ने अलंकार शास्त्र में कोई विशेष योग नहीं दिया। इसमें सन्देह नहीं कि जयदेव, विद्याधर, अप्पय दीक्षित आदि पण्डितों ने एक बार फिर अलंकार सम्प्रदाय का पुनरुत्थान करने का भरसक प्रयत्न किया।

---

१ साहित्यदर्पण—विमला टीका (प्रथम परिच्छेद)

अगीकरोति य काव्य शब्दार्थावनलकृती ।
असौ न मयते कस्मादनुष्णमनल कृती ॥ चन्द्रालोक १।८

—की आह्वान ध्वनि के साथ अलकार का जयघोष किया गया, परन्तु रस और ध्वनि की नीव इतनी गहरी जम गई थी कि वह फिर न हिल सकी। उसके उपरान्त अलकार परम्परा हिन्दी कवियो के हाथ मे चली गई। हिन्दी मे भी यद्यपि आचाय केशवदास न कविता और वनिता के लिए अलकार को अनिवाय माना तथा अन्य कवियो ने भी अपन लक्षणग्रन्थो म 'चन्द्रालोक' आदि की शैली का अनुसरण किया परन्तु प्राधान्य रस का ही रहा।

अलकार की परिभाषा और धम

अलकार की व्युत्पत्ति वैयाकरण दो प्रकार से करते हैं—अलकरोतीति अलकार अथात जो सुशोभित करता है, वह अलकार है, अथवा अलक्रियत ननेत्यलकार अर्थात जिसके द्वारा किसी की शोभा होती है, वह अलकार है। साधारणत दोनो का आशय एक ही है परन्तु पहले अथ मे अलकार कर्ता या विधायक है, दूसरे मे करण साधन है। वास्तव मे अलकार के विकास म य दोनो व्युत्पत्ति-अथ अपना महत्त्व रखते है—व्युत्पत्ति-अथ मे यह अतर इस बात का द्योतन करता है कि अलकार किस प्रकार काव्य के विधायक पद से स्खलित होकर साधन मात्र रह गया। अलकार के सवमान्य अथ को दृष्टि म रखते हुए दूसरी व्युत्पत्ति ही अधिक सगत है—जिसके अनुसार अलकार काव्य की शोभा का साधन मात्र है।

सस्कृत साहित्य शास्त्र मे अलकार की दो प्रतिनिधि परिभाषाएँ है—पहली है अलकारवादी दण्डी की। इसके अनुसार काव्य शोभाकरान धर्मानलकारान प्रचक्षते'—अलकार काव्य की शोभा करन वाले धम है। इससे दो परिणाम निकलते हैं

१ अलकार काव्य के धम—अर्थात सहज गुण—है।

२ काव्य की शोभा अथवा सौन्दय अलकारो पर ही निभर है।

उपयुक्त परिभाषा अलकार सम्प्रदाय का सिद्धान्त वाक्य रही। परन्तु बाद मे जब ध्वनिकार द्वारा ध्वनि और रस की स्थापना स्थिर रूप स हो गई अलकार की परिभाषा भी बदल गई। रसवादी विश्वनाथ के शब्दो म

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा शोभातिशायिन ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलकारास्तेऽङ्गदादिवत ॥१॥ साहित्यदपण १०।१

शोभा को अतिशयित करने वाले रस भाव आदि के उपकारक, जो शब्द और अथ के अस्थिर धम हैं वे अगद (बाजूबन्द) आदि की तरह अलकार कहाते हैं। इससे निम्नलिखित परिणाम निकलते है

१ अलकार काव्य मे सहज एव अनिवाय गुण नही है। केवल अस्थिर धम है, अर्थात कभी वतमान रहत है, कभी नही।

२ काव्य की शाभा (सौ दय) अलकार पर निभर नही है। सत्काव्य मे अलकार जहाँ वतमान भी रहता है, वहाँ शाभा की सृष्टि नही करता केवल वद्धि ही करता है।

३ काव्य का सौन्दय है रस, अलकार का गौरव उसी का उपकार करने म है। अथात सत्काव्य म अलकार का स्वतन्त्र अस्तित्व भी मान्य नही है।

उक्ति के चमत्कार का नाम अलकार है इसम ता किसी को भी विराध नही है परन्तु आग दा प्रश्न उठत है

१ क्या प्रत्येक उक्ति चमत्कार काव्य है ?

२ क्या काव्य म उक्ति चमत्कार अनिवाय है ? अथात क्या प्रत्यक काव्योक्ति मे चमत्कार अनिवायत वतमान रहता है ?

अलकार और रस-सम्प्रदाय के बीच जा द्वद्व रहा वह इन्ही प्रश्ना पर अवलम्बित था। अलकार सम्प्रदाय दाना का उत्तर 'हाँ' म देता था, रस-सम्प्रदाय 'नही' म, अथात अलकार सम्प्रदाय का मत था कि प्रत्यक चमत्कार पूण उक्ति काव्य पद की अधिकारिणी है और प्रत्यक काव्याक्ति म चमत्कार अनिवायत वतमान हाना चाहिए इसके विरुद्ध रस सम्प्रदाय का कहना था कि न तो प्रत्येक चमत्कृत उक्ति ही काव्य हो सकती ह और न प्रत्यक काव्योक्ति मे ही चमत्कार अनिवायत वतमान रहता है।

इन प्रश्ना का एक एक करके लीजिए। क्या प्रत्येक चमत्कारपूण उक्ति काव्य है ? इसका उत्तर देन के लिए पहले चमत्कार का आशय स्पष्ट करना चाहिए। चमत्कार की मूल वृत्ति है कौतूहल। किसी असामान्य वस्तु को देख कर अथवा असाधारण उक्ति का सुनकर हमारी कौतूहल वृत्ति जाग्रत होकर तृप्त हाती ह। काव्य म असाधारणता हाती अवश्य है परन्तु काव्य की मूल वृत्ति कौतूहल नही है। काव्य का आनन्द वासनाओ की उदबुद्धि, दूसर शब्दा मे, भावा की चक्रति से सम्बन्ध रखता है। इसम सन्देह नही कि उसके सारभूत प्रभाव म कवि की लाकोत्तर प्रतिभा के प्रति कौतूहल एव विस्मय का भाव भी मिश्रित रहता है, परन्तु वह सवथा गौण है और रसानुभूति क समय उसकी पृथक सत्ता नही होती। अतएव काव्य के लिए वह चमत्कार, जो केवल हमारी कौतूहली वृत्ति का शान्त करता है किसी प्रकार भी अनिवाय नही हो सकता। काव्य का चमत्कार (जिसकी आचार्यों ने चचा की है) जिसक लिए आचाय रामचन्द्र शुक्ल ने रमणीयता की सज्ञा अधिक उपयुक्त समझी है,

वास्तव म हमारे कौतूहल या विस्मय का नही जगाता। वह हमारी भाव वृत्तिया का ही जगाता ह। इसलिए वह भाव की रमणीयता के ही आश्रित है, दूर की सूझ या बुद्धि के व्यापारा व नही। वह सहानुभूति या सहजानुभूतिजन्य है, विस्मयजन्य नही है। इसलिए वही चमत्कारपूर्ण उक्ति काव्य हा सकती है, जिसका चमत्कार भाव की रमणीयता, कोमलता, सूक्ष्मता, अथवा तीव्रता व आश्रित हो। एसी उक्ति, जिसका चमत्कार बौद्धिक ग्रंथिया व सुलझान से सम्बन्ध रखता है, या केवल कल्पना विधान के आश्रित है, काव्य पद की अधिकारिणी कभी नही हो सकती। यही कारण है कि चित्र-काव्य अथवा प्रहेलिका आदि को जिनम भाव की रमणीयता का सवथा अभाव रहता है, प्राचीन आचार्यों न भी काव्य की कोटि से वहिष्कृत कर दिया है। अतएव यह तो स्पष्ट है कि जहा चमत्कार भाव के आश्रित न हाकर कोरे बौद्धिक विधान के आश्रित रहता है अथात श्राता के मन म हल्की-से हल्की भी भाव-तरग नही उत्पन्न करता, वहाँ हमारे हृदय मे लेखक के बुद्धि विधान के प्रति आश्चय और विस्मय की भावना ता जग सकती है इसके अतिरिक्त किसी गढ समस्या के सुलझ जाने से या बौद्धिक ग्रंथि के खुल जान स जो एक प्रकार का बौद्धिक आनन्द मिलता है, उसका भी अनुभव हा सकता है परन्तु काव्यानुभूति सम्भव नही है। सभी प्रकार का चमत्कार काव्यानन्द नही द सकता। जिसम भाव का योग ह, वही काव्यानन्द दे सकता है। जिसम भाव का योग नही, जो बौद्धिक विधान मात्र है वह बौद्धिक आनन्द ही देगा। उसमे ऐंद्रियता का रस नही हागा।

अव दूसरा प्रश्न लीजिए। क्या काव्य अनिवायत उक्ति चमत्कार के ही आश्रित है? अलकार के समथ पृष्ठपापक मम्मट न भी स्पष्ट रूप मे अनलङ्कृती पुन क्वापि' कह दिया है। विश्वनाथ आदि ने अलकारा को शाभातिशायी एव अस्थिर धम कहा है। परन्तु इसके विपरीत भामह और कुन्तक ने वक्रता को काव्य के लिए अनिवाय माना है। वक्रता से उनका तात्पय है लाकाक्रान्त गाचरता या वैदग्ध्यभगी भणिति का अर्थात अभिव्यक्ति की असाधारणता या अनूठेपन का। वास्तव मे ये दोनो सिद्धान्त ही अपने अपन ढग से ठीक है। रसवादियो का यह सिद्धान्त कि रमणीयता मूलत भाव के आश्रित है सवथा निर्भ्रान्त है परन्तु भाव की रमणीयता, कोमलता सूक्ष्मता अथवा तीव्रता सवथा साधारण शब्दो द्वारा—बिना किसी प्रकार की वक्रता के—व्यक्त की जा सके, यह सम्भव नही। भाव के सौन्दय से उक्ति के सौन्दय म चमक आप से-आप आ जाएगी। मनोवैज्ञानिक शब्दावली मे कहे तो यह कह सकते हैं कि भाव का

सौन्दय और उक्ति का सौन्दय दो सवथा भिन्न तत्त्व नही हैं। अनुभूति और अभिव्यक्ति म निश्चित पाथक्य नहीं किया जा सकता। इसलिए काव्य की आत्मा भाव की रमणीयता अवश्य है, परन्तु इस रमणीय आत्मा का आधार-शरीर भी अनिवायत रमणीय ही होगा। अर्थात काव्य के लिए रमणीय भाव तो अनिवाय ही है परन्तु रमणीय उक्ति—वक्र उक्ति—भी स्वभावत अनिवाय है क्योंकि भाव की रमणीयता उक्ति की रमणीयता के बिना अकल्पनीय है। परन्तु इसके लिए हम अलकार की परिधि को परिगणित रूढि अलकारो तक ही सीमित न रखकर सभी प्रकार की वचन वक्रता अथवा उक्ति रमणीयता तक विस्तृत करना होगा, लक्षणा और व्यजना क प्रयोगो को भी उसमे अतभूत करना होगा।

अलकार और अलकाय का भेद

सस्कृत साहित्य शास्त्र म रस (भाव), वस्तु और अलकार तीनो की पृथक स्थिति मानी गई है। अलकार रस (भाव) का उपकार करता है—अर्थात् उसको तीव्रतर करता है—और वस्तु के चित्रण म रमणीयता अथवा आकषण उत्पन्न करता है। अतएव रस (भाव) और वस्तु दोनो अलकाय हुए और अलकार उनके अलकरण का साधन। उदाहरण के लिए यदि हम निम्नलिखित दोहे को लें

> छिप्यौ छबीलौ मुहु लस, झीने अचल चीर।
> मनहुँ कलानिधि झलमल, कालिन्दी के नीर॥[1]

तो 'झीन नील अचल मे नायिका का मुख अत्यन्त सुन्दर लगता है'—यह तथ्य तो है 'वस्तु', नायक के हृदय म उसके प्रति जो आकषण अथवा अनुराग उत्पन्न हुआ है वह है भाव (रस), और 'मानो कालिन्दी क जल म कलानिधि झलमला रहा है' यह अप्रस्तुत विधान है उत्प्रेक्षा अलकार। यहा उत्प्रेक्षा अलकार वस्तु के चित्रण को रमणीय बनाता हुआ भाव को भी रमणीय बना देता है।

सस्कृत का आचाय अलकार और अलकाय का इस प्रकार पृथक विवेचन करता है, और पश्चिम का प्राचीन अलकार शास्त्र भी इससे सहमत है। परन्तु कला और अभिव्यजना के नवीन सिद्धान्त इससे मेल नही खाते। क्रोचे और उसके अनुयायी अभिव्यजनावादियो ने स्पष्ट शब्दो मे अलकार और अलकाय का अतर अनगल और निराधार माना है "One can ask oneself how an ornament can be joined to expression Externally ? In that case it must always remain separate Internally ? In

[1] बिहारी सतसई

that case either it does not assist expression and mars it, or it does form part of it and is not an ornament but a constituent element of expression indistinguishable from the whole "[1]

"यह पूछा जा सकता है कि उक्ति (अलकाय) म अलकार का किस प्रकार समावश किया जा सकता है ? बाहर से ? तब तो वह फिर सदव ही उक्ति से पृथक रहेगा। भीतर मे ? ऐसी दशा मे या तो वह उक्ति का साधक न होकर बाधक हो जायगा या फिर उसका अग बनकर अलकार ही न रह जायगा। तब ता वह उक्ति का ही एक मूल तत्त्व होकर उससे सवथा अभिन्न बन जायगा। स्पष्ट शब्दा म इसका आशय यह हुआ कि उक्ति और अलकार मे भेद नही किया जा सकता। उदाहरण के लिए, उपयुक्त दोह म सस्कृत साहित्य की दृष्टि से जो वस्तु, भाव और अलकार मे भेद किया गया है वह क्रोचे और उसके अनुयायिया को स्वीकार नही है। 'झीने अचल म नायिका का मुख सुदर लगता है' यह एक बात हुई—झीन अचल मे नायिका का मुख ऐसा सुदर लगता है मानो कालिन्दी के जल मे चन्द्र विम्ब झलमला रहा हो यह दूसरी बात। दोना उक्तियो की भावनात्मक प्रतिक्रियाए भिन्न है। नायिका के इस रूप विशेष का देखकर नायक या (कवि) के हृदय म सौन्दय की जो रमणीय चेतना हुई वह एक ही रूप म व्यक्त की जा सकती थी—वह चेतना अखण्ड थी, अतएव उसकी अभिव्यक्ति का भी खण्डो मे विभाजित नहा किया जा सकता।

गिरा और अथ की यह अभिन्नता भारतीय आचाय का अविज्ञात थी, यह बात नही। वयाकरणा ने इस प्रसग को लेकर काफी चर्चा की है। परन्तु तत्त्व रूप म अभिन्नता मानते हुए भी व्यवहार रूप म फिर भी हमारे यहा पाथक्य स्वीकार नहीं किया गया है। वास्तव म, इस सिद्धान्त का मूल सम्बन्ध अद्वत दशन से है। अद्वैतवादी तत्त्व रूप मे प्रकृति और पुरुष की अभिन्नता मानता है। क्राचे की भी स्थिति अद्वैतवादी से बहुत भिन्न नही है—उसने आत्मा की अद्वैत स्थिति की अत्यन्त स्पष्ट शब्दो मे स्थापना की है। क्राचे भी मूलत दाशनिक ही है। उसन सौन्दय शास्त्र का विवेचन दाशनिक सिद्धान्ता के ही स्पष्टीकरण के लिए किया है। परन्तु इतना हात हुए भी भारतीय दाशनिक व्यवहार रूप म प्रकृति और पुरुष म पाथक्य स्वीकार करता है—'गिरा अथ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न। और इसी से प्रभावित हाकर भारतीय

[1] *Expression and Rhetoric*—Croce

आचार्य वाणी और अर्थ की व्यवहारगत भिन्नता मानता है, परन्तु इसके विपरीत, क्रोचे किसी भी रूप में उसे स्वीकार नहीं करता। इन दोनों की सापेक्षिक सत्यता पर यदि विचार किया जाय तो भारतीय आचार्य की ही स्थिति अधिक विश्वस्त है। दोनों में व्यवहारगत भेद न मानने से न केवल समस्त साहित्य शास्त्र वरन् भाव शास्त्र और विचार शास्त्र का भी अस्तित्व लुप्त हो जाता है। विदेश के साहित्य मनीषी भी प्रायः इसी के पक्ष में है कि तत्त्व दृष्टि से अलंकार और अलंकार्य में अभेद होते हुए भी व्यवहार-दृष्टि में दोनों में भेद मानना अनिवार्य है।

अलंकारों का मनोवैज्ञानिक आधार

अलंकारों का आधार खोजने की चेष्टा संस्कृत साहित्य शास्त्र में आरम्भ से ही मिलती है। आरम्भ में ही भामह ने वक्रोक्ति को, दण्डी ने उसी की समानार्थक अतिशयोक्ति को और वामन ने औपम्य को समस्त अलंकारों का प्राण मानते हुए उनके मूलाधार का सफल निर्देश किया। इनके अतिरिक्त दण्डी ने एक स्थान पर श्लेष की ओर भी संकेत किया है। "श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायः वक्रोक्तिषु श्रियम्।"[1] उनके उपरान्त दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रयत्न रुद्रट का है जिसने वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के आधार पर अलंकारों का वर्ग विभाजन किया। वास्तव श्रेणी में २३ अलंकार रखे गये हैं जिनमें वस्तु के वास्तव स्वरूप का कथन होता है, औपम्य श्रेणी में २१ अलंकार हैं जिनका आधार सादृश्य है, अतिशय के अन्तर्गत १२ अलंकार हैं जिनमें प्रसिद्धि बाधा के कारण विपर्यय अथवा अतिलोकता का प्राधान्य होता है। श्लेष के अन्तर्गत अनेकार्थकता के चमत्कार पर अवलम्बित अलंकारों की गणना है। रुद्रट के उपरान्त रुय्यक ने औपम्य, विरोध, शृंखला, न्याय, गूढार्थप्रतिपत्ति और संकर के आधार पर अलंकारों को छह वर्गों में विभक्त किया और बाद में विद्याधर एवं विश्वनाथ ने न्याय को तर्क-न्याय, वाक्य-न्याय, और लोक-न्याय इन तीन अवान्तर भेदों में विभाजित करके रुय्यक के वर्गीकरण को ही लगभग ज्यों-का त्यों स्वीकार कर लिया। विद्यानाथ ने अवश्य इस क्रम का थोड़ा-बहुत विकसित करने का प्रयत्न किया। उसने औपम्य अथवा सादृश्य के स्थान पर साधर्म्य शब्द को अधिक उपयुक्त माना, और अध्यवसान एवं विशेषण वैचित्र्य, ये दो नवीन

---

[1] बाद में अभिनवगुप्त ने भी आनन्दवर्द्धन के समकालीन मनोरथ के इस सिद्धान्त "नैव वचनैवक्रोक्तिशून्यं च यत्" के प्रति सहमति प्रकट करते हुए वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का आधार स्वीकार किया है—वक्रोक्तिशून्य शब्देन सर्वालंकाराभावश्च उक्तः।

हुआ वाणी को भी उद्दीप्त कर देता है। मन के ओज का सहज माध्यम है आवेग, और वाणी के ओज का सहज माध्यम है अतिशयोक्ति। इसी प्रश्न को दूसरे प्रकार से भी हल किया जा सकता है। हमारे अलकार प्रेम की प्रेरक प्रवृत्ति है आत्म प्रदशन और प्रदशन मे अतिशय का तत्त्व अनिवायत होता है। इस प्रकार अलकृत वाणी (स्पष्ट शब्दो म), अलकार, का मूल रूप अतिशयोक्ति ठहरती है। अतिशयोक्ति का अथ है असाधारण उक्ति। वास्तव मे, जैसा कि अभिनव के उद्धरण से स्पष्ट है भामह ने वक्रता की और दण्डी ने अतिशय की बहुत कुछ एक से ही शब्दा म परिभाषा की है। दोना का तात्पय लोकातिक्रान्तगोचरता से ही है, इसलिए अतिशयोक्ति अथवा वक्रोक्ति किसी को भी अलकार सवस्व माना जा सकता है।

यह ता मूल प्रेरणा की बात हुई। व्यावहारिक धरातल पर आकर भी हम अलकारा के कुछ अपेक्षाकृत मूत आधार निर्धारित कर सकते है। यहाँ भी यदि वही प्रश्न फिर उठाया जाय कि हम अलकार का प्रयोग किसलिए करत हैं ता व्यवहार तल पर भी उसका एक ही स्पष्ट उत्तर है उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए। एसा करने के लिए हम सदृश लोकमान्य वस्तुओ से तुलना के द्वारा अपने कथन को स्पष्ट बनाकर उसे श्राता के मन म अच्छी तरह बैठाते है, बात को बढा चढाकर उसके मन का विस्तार करते है, बाह्य वपम्य आदि का नियोजन करके उसम आश्चय की उदभावना करते है, अनुक्रम अथवा औचित्य की प्रतिष्ठा करके उसकी वृत्तियो का अन्वित करते है, बात को घुमा फिराकर वक्रता के साथ कहकर उसकी जिज्ञासा उद्दीप्त करत है, अथवा बुद्धि की करामात दिखाकर उसके मन मे कौतूहल उत्पन्न करते है। अलकारा के ये ही मनोवैज्ञानिक आधार हैं, स्पष्टता, विस्तार, आश्चय, अन्विति, जिज्ञासा और कौतूहल। इनके मूत रूप है—साधम्य, अतिशय, वैषम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार (बौद्धिक)। उपमा और रूपक से लेकर दृष्टान्त, और अर्थान्तरन्यास जैसे अलकार साधम्य मूलक है अतिशयोक्ति के विभिन भेदा से लेकर सार, उदात्त जैस अलकार अतिशयमूलक, विरोध, विभावना, असगति से लेकर व्याघात आक्षेप जैस अलकार वैषम्यमूलक, यथासख्य, कारणमाला, एकावली से लेकर स्वभावोक्ति-जैसे अलकार औचित्यमूलक है, पर्याय, व्याजस्तुति, अप्रस्तुतप्रशसा से लेकर सूक्ष्म, पिहित आदि अलकार वक्रतामूलक है और श्लेष, यमक स लेकर मुद्रा और चित्र-जसे अलकार चमत्कारमूलक है। उपयुक्त विभाजन मे अतिशय, वक्रता और चमत्कार ये तीन एसे आधार है जो वास्तव म अपने व्यापक रूप मे समस्त अलकारो के मूलवर्ती है। परन्तु

यहाँ इसका प्रयोग नवीन और विशिष्ट अर्थ में किया है—अतिशय या लम्बी चौड़ी बात कहने के अर्थ में, वक्रता या बात को घुमा फिराकर कहने के अर्थ में और चमत्कार या बुद्धि-कौतुक के अर्थ में।

भारतीय और यूरोपीय अलंकार शास्त्र

यूरोप में काव्य के अन्य अंगों की भाँति अलंकार शास्त्र का जन्म भी यूनान में ही हुआ। यूनानी भाषा में जिस 'रहैटरिक' शब्द का प्रयोग होता है उसका वास्तविक अर्थ है भाषण अथवा वक्तृत्व-कला और आरम्भ में इसका उपयोग इसी अर्थ में होता भी था। श्रोता को प्रभावित अथवा अपने मत में करने के लिए जिन विधियों का उपयोग किया जाता था वे सभी अलंकार कहलाती थीं। अरस्तू ने इसे भाषा शास्त्र की अपेक्षा तर्क शास्त्र से अधिक सम्बद्ध माना है। धीरे धीरे अलंकार का क्षेत्र विस्तृत हो गया, और मौखिक भाषण से लिखित भाषा पर भी उसका अधिकार हो गया।

यूरोपीय अलंकार तीन वर्गों में विभक्त हैं १ शब्द विन्यास-सम्बन्धी, २ वाक्य विन्यास सम्बन्धी और ३ अर्थ विन्यास सम्बन्धी। इनमें शब्द विन्यास सम्बन्धी अलंकारों को संस्कृत के आचार्यों ने व्याकरण के ही अन्तर्गत माना है—व्याकरण में ही उपसर्ग प्रत्यय, वर्ण विपर्यय आदि का विवेचन मिलता है। वाक्य रचना-सम्बन्धी कुछ एक और अर्थ सौष्ठव सम्बन्धी अनेक अलंकार संस्कृत अलंकारों के समानान्तर हैं। इसका कारण स्पष्ट है कि अलंकार केवल शैली के बाह्य उपकरण नहीं हैं—उनका आधार मानव मनोविज्ञान है, इसलिए यूनानी अरबी, संस्कृत सभी भाषाओं के प्रधान अलंकार समान हैं। साधर्म्य मूलक अलंकारों में अंग्रेजी के सिमिली, मेटाफर, हमारे उपमा और रूपक के पर्याय ही हैं—फेबिल पैरेबिल, और एलीगरी वास्तव में शुद्ध अलंकार नहीं हैं फिर भी इनको अन्योक्ति और रूपक के रूपान्तर माना जा सकता है। वैषम्यमूलक आक्सीमारन तो स्पष्ट रूप से विरोध ही है। इसी प्रकार अतिशयमूलक अलंकारों के अन्तर्गत हायपरबोल और अतिशयोक्ति में तथा सार और क्लाइमैक्स में कोई अन्तर नहीं है वक्रता पर आश्रित यूफेमिज्म पर्याय का ही एक रूप है, इनुएण्डो गूढोक्ति से भिन्न नहीं है आयरनी काकु का पर्याय है, और चमत्कारप्राण अलंकारों में पन श्लेष और यमक का समकक्ष है। वाक्य विन्यास वास्तव में भाषा की रचना का बाह्य उपादान है अतएव उससे सम्बद्ध अलंकारों में साम्य साधारणत सम्भव नहीं है फिर भी ज्यूग्मा और दीपक की समानता दर्शनीय है।

भारतीय और यूरोपीय अलंकार शास्त्र में मुख्य अन्तर यह है कि यहाँ

शब्द शक्तियों का अलंकार से पृथक विवेचन मिलता है। वहां अलंकार में ही लक्षणा और व्यंजना को अंतर्भूत कर लिया गया है। वैसे तो संस्कृत के भी अनेक अलंकारों में लक्षणा का आधार है रूपक, परिकरांकुर और समासोक्ति में तो स्पष्ट रूप से लक्षणा का चमत्कार है फिर भी भाषा के ऐसे कई लाक्षणिक प्रयोग हैं जिन्हें अंग्रेजी में स्वतन्त्र अलंकार माना गया है। परन्तु संस्कृत में वे केवल शब्द शक्ति के रूप ही माने गए हैं जैसे—मैटोनिमी, जिसमें लिंगी के लिए लिंग, आधेय के लिए आधार कर्ता के लिए कारण का प्रयोग होता है, सिनक्डकी, जिसमें व्यक्ति के लिए जाति, जाति के लिए व्यक्ति, अंग के लिए अंगी, अंगी के लिए अंग मूर्त के लिए अमूर्त और अमूर्त के लिए मूर्त प्रयुक्त होता है हाइपैलेज, जिसमें विशेषण का विपर्यय हो जाता है, या परसोनीफिकेशन, जिसमें जड़ वस्तुओं का अथवा गुणों का मानवीकरण कर दिया जाता है। वास्तव में ये चारों न केवल स्वतन्त्र अलंकार के गौरव के ही अधिकारी हैं वरन् इन्हें प्रधान अलंकार स्वीकार करने में भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए। संस्कृत में जहां अनेक साधारण चमत्कारमूलक अलंकारों की बाल की खाल निकाली गई है वहां लक्षणामूलक इन महत्त्वपूर्ण अलंकारों का अभाव आश्चर्य की ही बात है। इसी प्रकार विदेश में व्यंग्य को अलंकार माना है परन्तु हमारे यहां उसे भी शब्द शक्ति का धर्म माना है यद्यपि हमारे पर्यायोक्ति, व्याजोक्ति गूढोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि सभी व्यंजना के ही आश्रित हैं, शब्दों की खींचा तानी से उनको अन्यथा प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

कुल मिलाकर अंग्रेजी के अलंकारों की संख्या—वाक्य और शब्द विन्यास से सम्बद्ध अलंकारों को मिलाकर भी—संस्कृत की अपेक्षा बहुत कम है। इसके अतिरिक्त इनमें सभी अलंकार वास्तव में शुद्ध नहीं कहे जा सकते। शब्द और वाक्य विन्यास के आश्रित अलंकार तो अधिकांशतः व्याकरण के प्रयोग हैं ही, अर्थ-विन्यास में सम्बद्ध ऐपीग्राम, फेबिल आदि भी स्वतन्त्र अलंकार नहीं हैं। वास्तव में, यूरोप में अलंकार शास्त्र का इतना सूक्ष्म विवेचन नहीं हुआ जितना कि हमारे यहां, और वैसे प्रकृति से भी वर्ग विभाजन में भारतीय आचार्यों को पराजित करना विदेश के पण्डितों के लिए सम्भव नहीं था। जैसा कि आज से बहुत पूर्व युग चेता आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने कहा था—'भारती को कुछ नवीन आभूषणों से अलंकृत करने में हम संकोच नहीं करना चाहिए। फिर क्या कारण कि बेचारी भारती के जेवर वही भरत, कालिदास, भास इत्यादि के जमाने के ज्यों-के-त्यों बने हुए हैं? भारती को क्या नवीनता

पसन्द नही । न हो तो न सही । हा तो वैडियाजी कुछ नये आभूषणो की खोज या कल्पना करने की कृपा करें । ये पुराने भूषण भाषण के भिन्न भिन्न ढग हैं । क्या इनके सिवा बोलने और लिखने, सरसता या चमत्कार उत्पन्न करने के लिए कोई अन्य ढग हो नही सकता ?'[१]

अलकारो की वृद्धि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है उनके परिशोधन का। सस्कृत के अलकारो म भ्रान्तिया काफी है—वाणी न्याय, वस्तु और भाव पर आश्रित अलकार वास्तव मे शुद्ध अलकार नही ह। इसी प्रकार बाल की खाल निकालकर अलकारो म जो सूक्ष्म अवान्तर भेद किए गए ह उनका समीकरण करना भी श्रेयस्कर होगा। अलकार भाषण की विधिया हैं—अतएव उनके मूल मे निश्चित मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तिया विद्यमान रहती है। उन्ही के प्रकाश म आज अपने अलकारो की सम्यक् व्याख्या और उसके साथ ही यथास्थान थोडा बहुत परिवतन और परिशोधन करके हम भारती के इस समृद्ध अग का उचित उपयोग कर सकते है।

रसानुभूति से अलकार का योग

अब एक प्रश्न शेष रह जाता है रसानुभूति म अलकार किस प्रकार योग देता है ?' रस मन की वह अवस्था है जिसमे हमारी मनोवृत्तिया अन्वित हो जाती ह। अतएव रसानुभूति म अलकार का क्या योग है इसका परीक्षण करने के लिए हमे यह देखना चाहिए कि अलकार किस प्रकार हमारी वृत्तिया को अन्वित करने मे सहायक होता है। वैसे तो सभी अलकारो का मूलाधार अतिशय है, जो हमारी वृत्तियो को उद्दीप्त करता हुआ बाद म उन्हे पूर्ण अन्विति के लिए तैयार कर देता है। परन्तु जैसा मैने अन्यत्र कहा है व्यवहार तल पर भी अलकारो के छह स्पष्ट आधार हैं जो अतिशयगर्भ होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न और अपने मे स्वतन्त्र है—साधर्म्य, अतिशय वैषम्य औचित्य, वक्रता और चमत्कार। साधर्म्यमूलक अलकार द्वारा मुख्यत हम अपने कथन को स्पष्ट करते हुए श्रोता की मनोवृत्तियो को अन्वित करते है—उदाहरण के लिए, यदि हम किसी सुन्दरी के मुख को चन्द्रमा की उपमा देते है, तो वास्तव म मुख को देखकर हमारे मन म जो विशिष्ट भाव उठता है उसका हम एक प्रसिद्ध उपमान की सहायता लेकर साधारणीकरण करते ह। चन्द्रमा एक प्रसिद्ध सौन्दर्य प्रतीक है। उसके दशन से मन म कैसा भाव उत्पन्न होता है इसे हमारे अतिरिक्त अन्य सहृदय व्यक्ति भी पूरी तरह जानते है। अतएव हम किसी

---

[१] 'भारती भूषण' की प्रस्तावना मे उद्धृत प० महावीरप्रसाद द्विवेदी का एक पत्र

सुदर मुख को चन्द्रमा के समान कहकर अपनी उद्दीप्त भावना का श्रोताओ के हृदय मे बैठाते हैं। इस प्रकार हमारी उक्ति के प्रभाव को पूणत ग्रहण करके श्रोता की वत्तियाँ प्रसन्न होकर अन्विति के लिए तैयार हो जाती है। साधर्म्यमूलक अलकार मूलत इसी तरह सहानुभूति म योग देते है। उनम स्पष्ट रूप मे लोकातिशयता तो होती ही है, परन्तु आत्यतिक रूप म सगति भी अनिवायत होती है (जहाँ लोकातिशयता असगत अथवा अप्राकृतिक होगी वहाँ अलकार साथक नही होगा)। अतएव वे अतिशयता के द्वारा पहले मन का विस्तार करते हुए हमारी वत्तिया का ऊजस्वित करत है फिर मूलवर्ती सगति के द्वारा उनमे अन्विति स्थापित करने म सहायक होते है। एक उदाहरण लीजिए

राघव की चतुरग चमूचय को गन 'केशव' राज समाजनि,
सूर तुरगन के अरझ पग तुग पताकनि की यह साजनि ॥

राम की सेना के वैभव का कवि के मन पर इतना अधिक प्रभाव पडा कि उसके मन का ओज एक साथ वाणी मे फूट पडा। 'तग पताकाओ मे सूय तुरगा के पर उलझ जाते है', इस उक्ति म पताकाओ की ऊँचाई की अतिशयता तो स्पष्ट है ही परन्तु उसके आगे उसकी ऊँचाइ म मूलवर्तिनी भावना की सगति भी है। इसलिए हम जब इस ऊजस्वित वाणी को सुनत ह तो प्रति सवेदन के द्वारा पहले ता हमार मन म ओज का सचार हो जाता है, जिससे हमारी वृत्तियाँ विस्तृत हो जाती है, फिर मूलवर्तिनी सगति के सहारे वे अन्विति के लिए तैयार हो जाती हैं। विस्तार के उपरान्त यह अन्विति स्वभावत ही अधिक गहरी होती है। वधर्म्यमूलक अलकारा की रसानुभूति मे योग देने की विधि साधर्म्यमूलक अलकारो के बिलकुल विपरीत है। ये वधर्म्य के द्वारा—शब्दगत अथवा अथगत निषेध के द्वारा—आश्चय चकित करके वैषम्य मे अनुस्यूत साम्य की अर्थात अनेकता म एकता की भावना, कराते हुए हमारी वृत्तिया को अन्वित करन मे सहायक होते है।

मीठी लग अँखियान लुनाई।

उपयुक्त उक्ति मे लुनाई के मीठे लगने म शब्दगत वैषम्य अथवा निषेध है। यही वैषम्य पहले ता एक साथ मन मे आश्चय पैदा करके हमारी वृत्तिया को विशृखल कर देता है, परन्तु बाह्य वधम्य होते हुए भी दोना म जो आन्तरिक सगति है वह अन्त मे जाकर उद्दीप्त वृत्तिया को अधिक पूणता के साथ अन्वित करने मे सहायक होती है।

चौथा वग है औचित्यमूलक अलकारो का—औचित्यमूलक अलकारो मे

तो मूलत ही एक संगति वर्तमान रहती है जो हमारी वृत्तियों को सीधे रूप में ही समन्वित होने में सहायता देती है।

'भागीरथी बिगरी गति मैं, अरु तू बिगरी गति की है सुधारक।' यहाँ भक्त 'बिगड़ी गति' और भागीरथी 'बिगड़ी गति की सुधारक' है। इन दो तत्त्वों में संगति स्पष्ट है जो हमारी भावनाओं में सामंजस्य स्थापित करने में सहायता देती है। इसी प्रकार माला तथा एकावली भावनाओं को शृंखलित करके और काव्यलिंग आदि भावगत औचित्य स्थापित करके उक्त उद्देश्य की सिद्धि में योग देते हैं।

वक्रतामूलक अलंकार कार्य जिज्ञासा को उभारकर पूरा करते हैं। गोपन प्रकाशन से भी सूक्ष्मतर कला है। वक्रता पर आश्रित अलंकार गोपन की सहायता से हमारे मन में जिज्ञासा उत्पन्न करते हैं। वे हमारी वृत्तियों की गति को थोड़ा रोककर उन्हें तीव्रतर बना देते हैं और फिर वास्तविक अर्थ की संगति द्वारा उनकी अन्विति में सहयोग देते हैं। उदाहरण के लिए, एक प्रसिद्ध पर्यायोक्ति लीजिए—'न स संकुचित: पन्था येन वाली हतो गत:'—जिस मार्ग से वाली यमपुर गया था वह मार्ग संकुचित नहीं हुआ है। ऐसा कहकर वाल्मीकि यह ध्वनित करना चाहते हैं कि सुग्रीव यदि प्रमाद करता है तो उसको भी वाली पथ का पथी बनना पड़ेगा। यहाँ वास्तविक अर्थ के गोपन द्वारा हमारी जिज्ञासा उद्दीप्त की गई है। अब रह जाते हैं चमत्कारमूलक अलंकार—इनका चूँकि बुद्धि के व्यायाम से सम्बन्ध अधिक है और नियोजन भी मुख्यतः मस्तिष्क की क्रियाओं के ही आश्रित है अतएव रसानुभूति में इनका योग अत्यन्त न्यून और अप्रत्यक्ष होता है फिर भी बुद्धि की भावना में कोई निश्चित विभाजक रेखा न होने से एक की क्रिया दूसरे को प्रभावित करती ही है। इसी प्रक्रिया से ये अलंकार भी हमारे मन में कौतूहल उत्पन्न करके हमारी वृत्तियों को अधिक जागरूक बना देते हैं और इस प्रकार अपने ढंग से रसानुभूति में योग देते हैं

'सगुन सलोने रूप की जु न चख तृषा बुझाइ।'[1]

यहाँ सलोना पद श्लिष्ट है—उसके दो अर्थ हैं लावण्ययुक्त और नमकीन। प्रयोग का यह द्व्यर्थक चमत्कार तो सीधा मन में कौतूहल उत्पन्न करके रस में सहायक हो जाता है, परन्तु प्राय: चमत्कारमूलक अलंकारों में बुद्धि की क्रीड़ा और अधिक होती है। जैसे

---

[1] बिहारी-सतसई

लखन सलोने अरु रहे, अति सनेह सों पागि ।
तनक कचाई देत दुख सूरन लौं मुह लागि ॥[1]

इस दोहे में सूरन की उपमा नायक के साथ दी गई—और सलोन, सनेह, कचाई, मुहे लागि आदि श्लिष्ट पदों द्वारा उसका निर्वाह किया गया है। 'सूरन कच्चा रहने पर मुह काट लेता है। उसकी किनकिनाहट दूर करने के लिए नमक लगाकर उसका रस निकाल डालते है, और उसे खूब तेल देकर भूनते है, फिर भी भूजने में वह कच्चा रह गया तो मुह में लग ही जाता है।' इस दोहे का सौन्दर्य श्लेष के ही आश्रित है—और वास्तव में अलकार निर्वाह भी बहुत खूबसूरती के बिना किसी खीच-तान के हुआ है, लेकिन फिर भी चूकि सूरन और नायक में भावना की अन्विति न होकर केवल बुद्धि की ही अन्विति है इसलिए रस तक पहुँचने में देर लगती है—और इसीलिए इसका योग दूरारूढ ही मानना पडेगा। साराश यह है कि अलकार अतिशय के चमत्कार द्वारा किसी न किसी प्रकार हमारी वृत्तियो को उद्दीप्त करके उन पर धार रखकर तीव्रतर बना देते है। ये उद्दीप्त वृत्तिया जब अन्वित होती है तब स्वभावत ही इनकी अन्विति में अपेक्षाकृत गहराई आ जाती है—और उसकी सहायता से हमारी रस की अनुभूति में भी तीव्रता एव गहराई आ जाती है। इसी रूप मे अलकार रसानुभूति में योग देते है।

रीति सम्प्रदाय

रीति सम्प्रदाय का सक्षिप्त इतिहास

रीति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक थे आचार्य वामन। उन्होने ही सबसे पूर्व 'रीति' शब्द का प्रयोग किया और उसे काव्य की आत्मा माना—'रीतिरात्मा काव्यस्य'। परन्तु, इस सम्प्रदाय की परम्परा उनसे बहुत पहले से चली आ रही थी। दण्डी ने तो स्पष्ट ही रीति के अर्थ में 'मार्ग' शब्द का प्रयोग करते हुए वैदर्भ और गौड दो मार्गों का निर्देश किया है। भामह ने भी वैदर्भ और गौड काव्यो के अन्तर का केवल शब्दो में निर्देश किया है जिससे स्पष्ट है कि उनके समय मे भी किसी न किसी रूप मे रीति का अस्तित्व था। उधर सातवी शताब्दी के पूर्वार्ध में बाणभट्ट ने भी लिखा है, गौड लोग अपने शब्दाडम्बर के लिए कुख्यात थे। इसके अतिरिक्त गुणो का विवेचन तो (जिनको कि दण्डी और वामन दोनो ने रीति का मूल तत्त्व माना है) अत्यन्त प्राचीन है। भरत के 'नाट्य शास्त्र' मे दस गुणो की सम्यक् व्याख्या की गई है। अतएव यही सिद्ध

[1] बिहारी-सतसई

होता है कि रस और अलकार की भाँति रीति की परम्परा भी उनके समानान्तर चल रही थी, जिसको वामन ने एक निश्चित रूपरेखा मे बाध दिया।

यदि भरत से ही आरम्भ करें, तो हम देखते है कि उन्होने रीति की ओर तो कही भी सकेत नही किया, परन्तु गुणो का पर्याप्त विवेचन किया है। उन्होने गुणो का स्वतन्त्र अस्तित्व न मानकर, उन्हे दोषाभाव माना है और इस प्रकार दस दोषो के अभाव रूप गुणो को भी सख्या मे दस माना है

श्लेष प्रसाद समता समाधिर्माधुर्यमोज पद-सौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते॥

—ना० शा० १६।९७

भरत का गुण विवेचन यद्यपि स्थान स्थान पर अस्पष्ट और सदिग्ध है, परन्तु फिर भी उनकी अनेक परिभाषाओ को दण्डी और वामन ने ज्यो-का त्यो स्वीकार कर लिया है। इसके अतिरिक्त यद्यपि उन्होने शब्द और अर्थगत गुणो का पृथक निरूपण नही किया लेकिन उन्हे इसका ज्ञान अवश्य था। भरत के उपरान्त भामह ने भी रीति को कोई महत्त्व नही दिया। उन्होने वक्रोक्ति को काव्य का मूल तत्त्व मानते हुए वैदर्भ और गौड काव्यो के भेद को अनर्गल घोषित किया। भामह मे रीति के लिए काव्य शब्द का प्रयोग मिलता है "वक्रोक्तिहीन वैदर्भ काव्य भी सत्काव्य नही है, और उससे परिपुष्ट गौड काव्य भी सत्काव्य की पदवी का अधिकारी है।" गुणो की भी भामह ने गौण रूप से चर्चा की है। उन्होने उनकी सख्या केवल तीन मानी है, माधुर्य, ओज और प्रसाद। बाद मे ध्वनिवादियो ने भामह के तीन गुणो को ही स्वीकार किया। भामह के परवर्ती दण्डी वैसे तो अलकारवादी थे, परन्तु उन्होने गुणो को अलकारो से अधिक महत्त्व दिया है। वास्तव मे उन्होने गुणो और अलकारो मे स्पष्ट भेद नही किया है। गुण और अलकार दोनो ही काव्य को शोभित करने वाले धर्म है—गुण केवल सत्काव्य को ही शोभित करते है, अलकार सत् और असत् दोनो प्रकार के काव्यो मे मिल सकते हैं। वैदर्भ काव्य, जिसमे समस्त गुणो का समावेश रहता है, सत्काव्य है। गौड काव्य इसके विपरीत है उसमे गुणो का विपर्यय मिलता है

इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणा स्मृता।
एषा विपर्यय प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि॥

—काव्यादर्श १।४२

दण्डी ने मार्ग और वर्त्मन शब्द का प्रयोग किया है—उन्होने मार्गो की सख्या दो और गुणो की दस मानी है। गुणो की गणना और नामकरण मे

भरत का अनुसरण करते हुए भी, उनकी व्याख्या में दण्डी ने पृथक् मार्ग का अवलम्बन किया है। उनका कान्तिगुण भरत के अर्थव्यक्ति गुण का समानान्तर है, समाधि और माधुर्य की परिभाषाएँ भरत से भिन्न हैं। दण्डी ने भी यद्यपि शब्द और अर्थगत गुणों का पार्थक्य नहीं किया, परन्तु उनके विवेचन से स्पष्ट है कि श्लेष, समता, सुकुमारता, ओजस शब्द के आश्रित हैं, प्रसाद, अर्थव्यक्ति, कान्ति, उदारता और समाधि अर्थ के। माधुर्य में दोनों का आधार है। दोषों का विवेचन उनका भरत से बहुत भिन्न नहीं है। उन्होंने भी भामह के ग्यारहवें दोष को अव्यक्त मानते हुए दोषों की संख्या दस स्वीकार की है। इतना होते हुए भी दण्डी के विवेचन में अपने दोष हैं। उदाहरणार्थ अर्थव्यक्ति प्रसाद के अन्तर्गत आ सकता है उदारत्व और कान्ति की परिभाषाएँ भी अस्पष्ट हैं, उनमें जिस भावगत सौन्दर्य की ओर संकेत किया गया है वह अनिर्दिष्ट है।

दण्डी के उपरान्त वामन ने रीति और गुणों का सम्यक् विवेचन तथा उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करते हुए रीति-सम्प्रदाय की असंदिग्ध रूप में प्रतिष्ठा कर दी। उन्होंने दण्डी के दो मार्गों के स्थान पर तीन रीतियों की सत्ता स्वीकार की वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली। वैदर्भी में दसों गुणों का समावेश रहता है, गौड़ी में ओज और कान्ति का पांचाली में माधुर्य और सौकुमार्य का। इसके अतिरिक्त गुणों का शब्द-गुण और अर्थ गुण दो भागों में विभक्त करते हुए उनका अपने ढंग से पुष्ट विवेचन किया और गुण और अलंकार में स्पष्ट भेद करते हुए पहले को नित्य और दूसरे को अनित्य स्वीकृत किया। वामन का गुण विवेचन भरत और दण्डी से बहुत भिन्न है। उदाहरण के लिए, वामन का ओजस दण्डी के श्लेष के समानान्तर है। वामन ने अर्थ गुण कान्ति में रस का भी समावेश करते हुए उसे काव्य के मूल तत्त्वों में परिगणित कर लिया है—परन्तु दण्डी ने उसका अन्तर्भाव अलंकारों में ही करते हुए उसे काव्य का अनिवार्य अंग नहीं माना।

उधर भरत और दण्डी के अनुसार वामन ने भी दस दोष तो माने हैं परन्तु भरत की भाँति उन्होंने गुणों को दोषाभाव न मानकर दोषों का गुणों का विपर्यय माना है, और उनका पद दोष, पदार्थ-दोष, वाक्य दोष, और वाक्यार्थ-दोष इन चार भेदों में विभाजन किया है। वामन के विवेचन की सीमाएँ भी हैं—उनकी कतिपय परिभाषाएँ अस्पष्ट हैं। सबसे पहले तो उनका समस्त गुणों का शब्द-गुण और अर्थ गुण में विभक्त करना ही अधिक संगत नहीं है स्थान स्थान पर इसके लिए उन्हें खींच तान करनी पड़ी है। साथ ही कुछ अन्य दोष भी स्पष्ट हैं—जैसे उनका शब्द गुण प्रसाद केवल ओजस् का

निषेध मात्र है और उदारता ग्राम्यत्व का। उनके श्लेष को मम्मट ने स्वतन्त्र गुण ही नही माना, क्योकि वह ओजस का केवल एक भेद मात्र है। उनके कई गुण तो केवल अलकार ही रह गए है। इस प्रकार वामन के विवचन के विरुद्ध परवर्ती आचार्यो ने अनेक आक्षेप किए हैं। परन्तु इन साधारण आक्षेपो के होते हुए भी सस्कृत अलकार शास्त्र मे वामन का गौरव कम नही होता। काव्य के बाह्य रूप की महत्ता को असदिग्ध शब्दो मे स्थापित करते हुए उसकी व्यवस्थित व्याख्या करने वाले इस आचार्य का अपना पृथक स्थान रहेगा। काव्य शोभा अथवा सौन्दय का वस्तुगत विवचन उनका सवथा पूण है।

वामन के उपरान्त रुद्रट ने एक चौथी रीति—लाटी—का और आविष्कार किया, परन्तु उनकी रीति समस्त पदो का प्रयोग विशेष ही है। आनन्दवद्धन और अभिनवगुप्त ने ध्वनि के आधार पर काव्य का भावगत विवेचन किया है अतएव स्वभाव से ही उन्होने रीति को स्वतन्त्र महत्त्व नही दिया। आनन्दवद्धन ने उसे काव्य के बाह्य रूप की शोभा का उपादान मानते हुए वाच्य वाचक चारुत्व हेतु कहा है। उनका महत्त्व इसी पर निभर है कि व रस परिपाक मे कहा तक योग देती है। अभिनव एक पग और आगे बढ गए है, उन्होने गुण और अलकार से पृथक रीति का अस्तित्व मानने की आवश्यकता ही नही समझी। हा गुणो को ध्वनिवादियो ने वाछित महत्त्व दिया है, उनको रस का तत्त्व मानते हुए काव्य का नित्य अग माना है। गुणो की सख्या उन्होने दस से घटाकर भामह के अनुसार तीन ही कर दी है—माधुय, ओज और प्रसाद जो क्रमश चित्त की द्रुति, दीप्ति और व्यापकत्व पर आश्रित है। कुन्तक ने भी रीति विभाजन का तीव्र शब्दो मे विरोध किया उन्होने कहा—देश के अनुसार काव्य रीति का विभाजन असगत है। इस प्रकार तो असख्य रीतिया माननी पडेंगी, और न रीतियो का उत्तम, मध्यम और अधम मानना ही उचित है क्योकि काव्य तो कवि प्रतिभा-जन्य है। एक बात को कहने की कवल एक ही रीति हो सकती है वह सबसे उत्तम होगी—उसम उत्तम, मध्यम और अधम के लिए स्थान नही है। रीति के स्थान पर कुन्तक ने भी माग शब्द का ही प्रयोग किया है और उसे कवि प्रस्थान हेतु अर्थात कवि-कम का ढग माना है। मार्गों को उन्होने देश भेद के अनुसार विभाजित न करके रचना गुण के अनुसार दो भेदो मे विभाजित किया है सुकुमार और विचित्र। उधर दस गुणो की परिपाटी से स्वतन्त्र उन्होने दोनो मार्गों के तत्त्व रूप चार गुण माने है—माधुय, प्रसाद लावण्य और आभिजात्य। यो तो चारो गुण दोनो ही मार्गों के मूल तत्त्व हैं परन्तु उनका स्वरूप दोनो मे भिन्न है। इनके

अतिरिक्त औचित्य और सौभाग्य दो और भी गुण हैं जो सभी प्रकार के काव्यों में वर्तमान होने चाहिए। कुन्तक ने कवि प्रतिभा को काव्य का मूलाधार माना है, इसलिए उन्होंने बाह्य उपादानों को अधिक महत्त्व नहीं दिया, स्वभावतः उनकी विवेचना सर्वथा वस्तुगत न होकर बहुत कुछ मनोगत भी है।

कुन्तक के उपरान्त भोज ने मागधी और अवन्तिका दो नवीन रीतियों की उद्भावना करते हुए उनकी संख्या छह तक पहुँचा दी। उनका वर्गीकरण भी बहुत कुछ समस्त पदों के प्रयोग पर ही आश्रित है। अवन्तिका को उन्होंने वैदर्भी और पांचाली का मध्यवर्ती माना है। मागधी को एक अपूर्ण और सदोष प्रकार मानते हुए खण्ड रीति की संज्ञा दी है, उसमें संगीत का अभाव रहता है। इसके अतिरिक्त गुणों और दोषों के विवेचन में भी उन्होंने नवीन उद्भावनाएँ की हैं, परन्तु उनकी ये उद्भावनाएँ अधिक पुष्ट और व्यवस्थित नहीं हैं उनके पीछे कोई निश्चित मनोभूमिका नहीं मिलती। उदाहरण के लिए, उनकी रीति विषयक उद्भावनाएँ ही निराधार और निरर्थक हैं।

भोज के परवर्ती आचार्यों ने मौलिक सिद्धान्तों की कोई विशेष सृष्टि नहीं की वे प्रायः व्याख्याता ही थे। इनमें सबसे प्रसिद्ध तीन हुए—मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ। मम्मट ने वामन की रीतियों को उद्भट की वृत्तियों से एकरूप कर दिया है वैदर्भी और उपनागरिका एक हैं परुषा और गौडी एक हैं, पांचाली और कोमला एक हैं। इनमें पहली दोनों माधुर्य व्यंजक वर्णों के आश्रित हैं दूसरी ओज व्यंजक वर्णों के, तीसरी में ऐसे वर्णों का प्रयोग होता है जो इन दोनों से भिन्न हैं। मम्मट का विवेचन बहुत कुछ आनन्दवर्द्धन और अभिनव से प्रभावित है। उन्हीं के अनुसरण पर मम्मट ने भी गुणों की संख्या केवल तीन ही मानी है—और वामन कृत दस शब्द गुणों और दस अर्थ गुणों की व्याख्या की आलोचना करते हुए शेष गुणों को या तो इन तीनों में ही अन्तर्भूत कर दिया है, या फिर दोषाभाव कहकर स्वतन्त्र अस्तित्व का अधिकार नहीं दिया है। मम्मट की अपेक्षा विश्वनाथ ने रीति का अधिक आदर दिया है। ध्वनि के परवर्ती आचार्यों में केवल विश्वनाथ ने ही रीति का रस और गुण के सम्बन्ध से व्यवस्थित विवेचन किया है। उन्होंने रुद्रट के अनुसार चार रीतियाँ मानी हैं और उनका आधार समस्त-पद प्रयोगों को न मानकर स्पष्ट रूप से वर्णों के संगुम्फन को ही माना है। वैदर्भी जो माधुर्य से सम्बद्ध है, शृंगार, करुणा और शान्त के उपयुक्त है, और गौडी जिसका सम्बन्ध ओज से है वीर वीभत्स तथा रौद्र के अनुकूल पड़ती है। पांचाली की परिभाषा उन्होंने बहुत कुछ मम्मट के अनुसार ही की है जो स्पष्ट नहीं

हा सकी। उनकी लाटिका गीति म भी वदर्भी और पाचाली की ही विशयताएँ है, अतएव उसकी स्वतन्त्र सत्ता मानना व्यथ है। सस्कृत साहित्य शास्त्र क अतिम प्रसिद्ध आचाय पण्डितराज जगन्नाथ न काव्य क बाह्य रूप का एक बार फिर गौरव के साथ आग लान का प्रयत्न किया, और गुण आदि का विस्तृत विवचन भी किया। परन्तु कुल मिलाकर व भी इस क्षत्र म आनन्दवद्धन और मम्मट आदि स भिन्न कोई स्वतन्त्र उदभावना नही कर सके। रीति की परम्परा, जो कि सस्कृत म भी अधिक लाकप्रिय नहीं हो पाइ थी, अन्त म स्वभावत ही उसी के साथ निशेष हो गइ। हिन्दी के आचार्यों न उस कोई महत्त्व नही दिया।

रीति की परिभाषा और स्वरूप

रीति क उद्भावक वामन न रीति को विशिष्ट पद रचना कहा है—विशिष्टा पद रचना रीति, और पद रचना के वैशिष्ट्य को विभिन्न गुणो क सश्लपण पर आश्रित माना है 'विशेषा गुणात्मा'। गुण का अथ उन्ही क शब्दो म है—काव्य का शोभित करन वाले धम। गुण नित्य धम ह अलकार अनित्य, क्योकि केवल गुण ता वैशिष्ट्य की सृष्टि कर सकत है, केवल अलकार नही। काव्य का समस्त सौन्दय रीति पर आश्रित है। यह सौन्दय किस प्रकार उत्पन हाता है? दोषो के बहिष्कार एव अलकारो के प्रयाग से। तो, इस प्रकार वामन के अनुसार रीति पद रचना का वह प्रकार है जो दोषो स मुक्त हो, एव गुणो से अनिवायत तथा अलकारो स साधारणत सम्पन्न हो।

वामन के उपरान्त कुन्तक न रीति का *कवि प्रस्थान हतु*, अर्थात कवि कम की विधि कहा है, और भोज ने भी उसका अथ काव्य माग किया है। आनन्दवद्धन ने अपन आशय को थोडा और स्पष्ट करते हुए उसका वाच्य वाचक चारुत्व हतु कहा है—उनके अनुसार रीति वह विधि ह, जिसके द्वारा काव्य के शरीर शब्द-अथ म चारुता आती है। आनन्दवद्धन न इस प्रकार रीति का सम्बन्ध समस्त काव्य से न जोडकर उसके बाह्य रूप तक ही सीमित रखा है जो वास्तव मे उचित है, क्योकि काव्य केवल पद रचना के ही आश्रित नही ह। बाद म मम्मट और विश्वनाथ न इसी तथ्य का स्पष्ट करत हुए रीति विवेचन को सवथा निभ्रान्त बना दिया है पद सघटना रीतिरग सस्थानवत। इस प्रकार आप देख कि साहित्य शास्त्र के विकास के साथ रीति के गौरव म तो आकाश पाताल का अन्तर हो गया है—वह आत्मा से अग मात्र रह गई है परन्तु उसकी परिभाषा आदि से अन्त तक लगभग वही रही है।

बहुत कुछ अग्रेजो के अठारहवी शती के कवियो की भाति रीतिवादियो

का भी दृष्टिकोण वस्तुगत था । उन्ही की तरह य भी काव्य सौंदय को भाव के आश्रित न मानकर भाषा के ही आश्रित मानत थ । वामन का यह विश्वास था कि समस्त पदो के कुशल प्रयाग, एव शब्दो तथा वर्णों के चार चयन के द्वारा अथवा भावा का क्रम बाँधन या उनका सजाकर रखन से ही प्राय काव्य सौंदय की सृष्टि हाती है । अतएव व उन्हीं का आधार मानकर काव्य के बाह्य रूप का वस्तुगत विश्लेपण करत रह । परन्तु काव्य के भाव-पक्ष अथवा आन्तरिक पक्ष से वे सवथा अनभिज्ञ थ, यह नही कहा जा सकता । उन्हान अथ गुण कान्ति मे रस की दीप्ति अनिवाय मानी है । इसी प्रकार उनके अथ गुण सौकुमाय और उदारता भी भाव-सौंदय से ही अधिक सम्बन्ध रखत ह । इसके अतिरिक्त अथ गुणा का शब्द गुणा के बराबर ही महत्त्व दना भी ता इसका स्पष्ट प्रमाण है । इस प्रकार वामन की रीति म आन्तरिक तत्त्व का सवथा अभाव मानना ता भ्रामक है क्याकि उ हान अथ और वाणी क सामजस्य को पूणत स्वीकार किया है, पर हा वैयक्तिक तत्त्व का उसम कदाचित उतनी प्रधानता नही दी गइ जितनी कि पाश्चात्य काव्य शास्त्र की 'शैली' म दी गई है । भारतीय काव्य शास्त्र की रीति का सम्बन्ध कला स जितना घनिष्ठ है उतना कवि-व्यक्तित्व से नहीं । परन्तु फिर भी डॉक्टर डे आदि की यह प्रस्थापना पूणत सत्य नहीं है कि भारतीय रीति सवथा निर्वैयक्तिक रचना कौशल है, अतएव वह पाश्चात्य शैली से एकान्त भिन्न है । भारतीय काव्य शास्त्र म अनेक स्थाना पर रीति और कवि व्यक्तित्व के अन्तरग सम्बन्ध का निर्देश किया गया है । उदाहरण के लिए दण्डी ने स्पष्ट कहा है कि वैदभ और गौडीय माग ता काव्य के दा स्थूल भेद मात्र है । वसे ता कविया ने अपन अपने व्यक्तित्वा के अनुसार वाणी के अनक सूक्ष्म भद है जिनका वणन सम्भव नही है

अस्त्यनेको गिरा माग सूक्ष्मभेद परस्परम ।
तत्र वदभगौडीयौ वर्ण्यते प्रस्फुटान्तरौ ॥ काव्यादश ४०,१

× × ×

इति मागद्वय भिन्न तत्स्वरूप निरूपणात ।
तदभेदास्तु न शक्यन्ते वक्तु प्रतिकविस्थिता ॥ वही १,१०१

उनके उपरान्त शारदातनय आदि ने भी इसका समथन किया—'पुसि पुसि विशेषण क्वापि-क्वापि सरस्वती' और उधर अनेक कविया न इस बात पर बल दिया है कि प्रत्यक कवि की अपनी विशिष्ट रीति हानी अनिवाय है ।

उधर पश्चिम मे भी शैली का वस्तु विवेचन काफी हुआ है । सबसे पूव तो आचाय अरस्तू न ही शैली के बाह्य रूप का व्यापक विवेचन करते हुए उसके

दो भेद किए हैं वाद शैली और साहित्य शैली[1]। उन्होंने शैली के दो मूल गुण माने हैं (अ) पर्सपिक्विटी, (आ) प्राप्राइटी। पर्सपिक्विटी का अर्थ है प्रसाद, और प्राप्राइटी का औचित्य। ये दोनों ही गुण भारतीय काव्य शास्त्र में स्वीकृत हैं। प्रसाद तो पृथक् गुण ही है औचित्य का कुन्तक के अतिरिक्त किसी ने पृथक् निर्देश नहीं किया, किन्तु नाम भेद से उसे वामन आदि सभी ने स्वीकार किया है। तथापि औचित्य वास्तव में विशेष गुण न होकर काव्य का सामान्य गुण ही है क्योंकि इसके अभाव में काव्य काव्य ही नहीं रह जाता और इस दृष्टि से कुन्तक का मत ही अधिक मान्य है जिन्होंने कि इसे रीति का सामान्य अनिवार्य गुण ही माना है। अरस्तू के उपरान्त शैली पर डिमेट्रियस का 'ऑन स्टाइल' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मिलता है। डिमेट्रियस ने शैली के चार भेद किए हैं ऐलीगेण्ट (सुन्दर) प्लेन (प्रसादयुक्त), फार्सिबिल (ओजस्वी), और एलिवेटिड (उदात्त)। इनमें प्रथम तीन तो भारतीय काव्य शास्त्र की क्रमशः माधुर्य प्रसाद और ओजयुक्त शैलियों से अभिन्न ही हैं, एलिवेटिड (उदात्त) थोड़ी भिन्न है—परन्तु उसका कारण यह है कि विदेश में सब्लाइम का आरम्भ से ही पृथक् विवेचन है जबकि हमारे यहाँ उसे ओज में ही अन्तर्भूत कर लिया गया है।

यूनानी आचार्यों के उपरान्त रोम के और उनके उपरान्त फ्रांस, इंगलैण्ड आदि के अनेक काव्य शास्त्रियों ने शैली के वस्तु रूप का सम्यक् विवेचन किया है। इन आलंकारिकों के विवेचन के सार रूप पश्चिम में शैली के तीन पक्ष माने गये हैं—बुद्धि पक्ष, राग पक्ष और कला पक्ष। बुद्धि पक्ष के अन्तर्गत आते हैं (अ) यथातथ्यता अर्थात् उचित शब्द का उचित प्रयोग, (आ) स्पष्टता अर्थात् इन उचित शब्दों को वाक्य संगठन में उचित स्थान पर क्रमपूर्वक रखना (इ) औचित्य अर्थात् वस्तु और उसकी अभिव्यक्ति का सामंजस्य—संगति, अन्विति इत्यादि। राग पक्ष में आशय ओज तीव्रता ध्वन्यात्मकता अथवा उन तत्त्वों से है जिनके द्वारा कवि न केवल अपने विचारों को ही वरन् अपने भावों और उद्वेगों का भी पाठक तक प्रेषित करता हुआ उसके हृदय में भी सदृश भावों और उद्वेगों का सञ्चार करने में समर्थ होता है। तीसरा है कला पक्ष, जिसके अन्तर्गत संगीत, गति लय, नाद-सौन्दर्य आदि की गणना है जो अर्थ से स्वतन्त्र होकर भी मन को आह्लादित करते हैं।

आप देखें कि उपर्युक्त तत्त्व विश्लेषण वामन आदि के तत्त्व विश्लेषण से

[1] Controversial and Literary

बहुत भिन्न नहीं है। वामन के श्लेष (जिसमे शब्द और अर्थ की पूर्ण मैत्री के द्वारा अभिव्यक्ति मे यथातथ्यता रहती है) प्रसाद—(जिसमे सरल प्रचलित शब्दो के निर्भ्रान्त प्रयोग द्वारा आशय की स्पष्टता रहती है) समाधि—(जिसमे अर्थ की एकाग्रता होती है) समता—(जिसमे सगति होती है) आदि बुद्धिपक्ष के तत्त्व है। सौकुमार्य—(जिसमे अप्रिय तथ्य भी प्रिय शब्दो मे कहा जाता है), उदारता—(जिसमे भाव भगिमा मे अग्राम्यत्व रहता है), कान्ति—(जो रस से दीप्त होता है) आदि अर्थ गुण राग पक्ष के तत्त्व है। इसी प्रकार कतिपय शब्द गुण जैसे ओज—(जिसमे पदो का गाढ बन्धत्व रहता है), माधुर्य—(जिसमे पद पृथक और श्रुति मधुर होते है), सौकुमार्य—(जो परुष वर्णो से मुक्त होता है), उदारता—(जिसमे पद नृत्य-सा करते है) और कान्ति—(जिसमे पद औज्ज्वल्य की विशेषता रहती है) कला पक्ष के तत्त्व है। इसमे सन्देह नही कि यह विवेचन सर्वथा पूर्ण नही है परन्तु जहा कही भी जीवन के तत्त्वो का बाह्य तथ्यो के वर्गीकरण द्वारा विवेचन किया जाएगा वहा पूर्णता की आशा करना व्यर्थ होगा। रीति या शैली अपने वास्तविक रूप मे मनोविकारो की अभिव्यक्ति का नाम है। अतएव उसको निश्चित बाह्य तथ्यो मे बाँधना उतना ही कठिन है जितना मनोविकारो को। इस क्षेत्र मे तो विवेचन की एक दिशा का ही निर्देश किया जा सकता है—इस दृष्टि से वामन की सफलता पश्चिमी आचार्यो की अपेक्षा अधिक स्तुत्य है।

अब रह जाता है शैली का वैयक्तिक तत्त्व। वैयक्तिक तत्त्व के दो रूप है। एक तो शैली द्वारा कवि की आत्माभिव्यजना दूसरा पात्र तथा परिस्थिति के साथ शैली का सामजस्य। पहला रूप जैसा मैंने अभी कहा है भारतीय रीति परिभाषा मे सर्वथा बहिष्कृत नहीं है यद्यपि उसे वाछित महत्त्व नही मिला, और इसका स्पष्ट कारण यही है कि भारत मे साहित्य का निर्वैयक्तिक साधना के रूप मे ही प्राय ग्रहण किया गया है। दूसरे रूप का विधान तो निश्चय ही मिलता है। यद्यपि वामन ने इसका स्पष्टीकरण नहीं किया परन्तु वामन से पूर्व भरत ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दो मे स्वीकार किया है कि नाटक मे *भाषा पात्र के शील स्वभाव की ही अनुवर्तिनी होनी चाहिए*। वामन के उपरान्त मम्मट ने भी वक्ता और विषय के अनुसार रीति मे परिवर्तन करना उचित और आवश्यक माना है।

साराश यह है कि रीति सम्प्रदाय ने काव्य के बाह्य पक्ष—रचना चमत्कार—को विशेष महत्त्व दिया है इसमे सन्देह नही, परन्तु यह भी सत्य है कि उसके

मानस पक्ष की भी उपेक्षा इतनी नहीं की गई। हाँ, कवि की आत्माभिव्यक्ति को वांछित महत्त्व नहीं मिला, यद्यपि तिरस्कार उसका भी नहीं हुआ।

रीति एवं गुण और दोष की स्थिति और उनका रस से सम्बन्ध

जहाँ तक वामन की रीति का प्रश्न है, स्थिति सर्वथा स्पष्ट है। वामन के अनुसार रीति का अर्थ है रचना चमत्कार, जो गुणों पर आश्रित रहता है। गुण काव्य के वे नित्य धर्म हैं जो उसको शोभाभिव्यक्ति करते हैं। दोष गुणों के विपर्यय हैं अतएव वे काव्य की शोभा में बाधक होते हैं। गुणों के प्रयोग और दोषों के बहिष्कार से रचना में सौन्दर्य आता है। रचना का यही सौन्दर्य वामन के लिए काव्य का सर्वस्व है। रस इसी में निहित रहता है, वह इसका साध्य नहीं साधक है।

परन्तु यह स्थिति बहुत समय तक न रही। ध्वनि और रसवादियों ने चित्र बदल दिया। रीति आत्मा न रहकर अंग-संस्थान मात्र रह गई। रस उसका एक तत्त्व नहीं रहा। वह स्वयं रस की उपकर्त्री समझी गई। इसी प्रकार गुण भी उसके उपादान तत्त्व नहीं रहे। वह स्वयं उनका माध्यम बन गई। इन लोगों के अनुसार रीति शब्द और अर्थ के आश्रित रचना चमत्कार का नाम है जो माधुर्य, ओज अथवा प्रसाद गुण के द्वारा चित्त का द्रवित, दीप्त और परिव्याप्त करती हुई रस दशा तक पहुँचाती है।

गुण की मनोवैज्ञानिक स्थिति

अब एक प्रश्न शेष है। गुण की मनोवैज्ञानिक स्थिति क्या है? आनन्दवर्द्धन ने तो केवल यही कहा है कि शृंगार, रौद्र आदि रसों में, जहाँ चित्त आह्लादित और दीप्त होता है माधुर्य ओज आदि गुण बसते हैं, परन्तु आह्लादन (द्रुति) और दीप्ति में गुणों का क्या सम्बन्ध है, यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। क्या माधुर्य और चित्त की द्रुति अथवा ओज और चित्त की दीप्ति परस्पर अभिन्न हैं अथवा उनमें कारण-कार्य सम्बन्ध है। इस समस्या को अभिनव ने सुलझाया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि गुण चित्त की अवस्था का ही नाम है। माधुर्य चित्त की द्रवित अवस्था है, ओज दीप्ति है और प्रसाद व्यापकत्व है। चित्त की यह द्रुति, दीप्ति अथवा व्याप्ति रस परिपाक के साथ ही घटित होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि शृंगार रस की अनुभूति में चित्त में जो एक प्रकार की आर्द्रता का सचार होता है वही माधुर्य है वीर रस के अनुभव से उसमें जो एक प्रकार की दीप्ति उत्पन्न होती है वही ओज है और सभी रसों के अनुभव से चित्त में जो एक व्यापकत्व आता है वही प्रसाद है। इस प्रकार अभिनव के अनुसार माधुर्य आदि गुण चित्त की द्रुति

आदि अवस्थाओं से सर्वथा अभिन्न है और चूंकि ये अवस्थाएँ रसानुभूति के कारण ही उत्पन्न होती हैं अतएव रस को कारण और गुण को उसका कार्य कहा जा सकता है। कारण और कार्य में अन्तर होना अनिवार्य है, इसीलिए रस और चित्त द्रुति आदि के अनुभव में भी अन्तर अवश्य मानना होगा—कम से कम कालक्रम का अन्तर तो है ही। परन्तु चूंकि रस की पूर्ण स्थिति में दूसरे अनुभव को स्थान नहीं रहता, अतएव चित्त द्रुति आदि का भी सहृदय को पृथक् अनुभव नहीं रह पाता। वह रस के अनुभव में ही निमग्न हो जाता है। आनन्दवर्द्धन ने गुणों को रस के नित्य धर्म इसी दृष्टि से माना है।

अभिनव के उपरान्त माधुर्य आदि गुणों को मम्मट ने रस के उत्कर्ष-वर्द्धक एवं अचल स्थिति धर्म माना और उन्हें चित्त द्रुति आदि का कारण माना। अभिनव ने रस को गुण का कारण माना था और गुण को चित्त द्रुति आदि से अभिन्न स्वीकार किया था। मम्मट गुण को चित्त द्रुति आदि का कारण मानते हैं। गुण का स्वरूप क्या है इस विषय में मम्मट ने कुछ प्रकाश नहीं डाला। मम्मट का प्रतिवाद विश्वनाथ ने किया। उन्होंने फिर अभिनव के मत की ही प्रतिष्ठा की, अर्थात् चित्त के द्रुति-दीप्तत्व रूप आह्लाद को ही गुण माना। परन्तु उनका मत था कि "द्रवीभाव या द्रुति आस्वाद-स्वरूप आह्लाद से अभिन्न होने के कारण कार्य नहीं है जैसा कि अभिनव ने किसी अंश तक माना है। "आस्वाद या आह्लाद रस के पर्याय हैं। द्रुति रस का ही स्वरूप है उससे भिन्न नहीं है।"[1]

इस तरह विश्वनाथ ने एक प्रकार से गुण को रस से ही अभिन्न मान लिया है।

वास्तव में, जैसा कि डॉ० लाहिरी ने कहा है, संस्कृत साहित्य शास्त्र में गुण की स्थिति पूर्णतया स्पष्ट नहीं है। यदि विश्वनाथ के अनुसार उसे रस से अभिन्न आस्वाद रूप ही मानते हैं तो प्रश्न उठता है कि उसकी पृथक् स्थिति क्यों मानी जाय? इसलिए विश्वनाथ का सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता। मनोविज्ञान की दृष्टि से देखें तो रस और गुण दोनों ही मन स्थितियाँ हैं (इस विषय में अभिनव, मम्मट आदि सभी सम्मत हैं)। रस वह आनन्दमयी मन स्थिति है जिसमें हमारी सभी वृत्तियाँ अन्वित हो जाती हैं और यह स्थिति अखण्ड है। उधर गुण भी मन स्थिति है, जिसमें कहीं चित्त-वृत्तियाँ द्रवित हो जाती हैं कहीं दीप्त और कहीं परिव्याप्त। यहाँ तक तो कोई

---

[1] 'साहित्यदर्पण'—विमला टीका (प्रथम परि० ३०८)

कठिनाई नहीं है। यह भी ठीक है कि विशेष भावों में और विशेष शब्दों में भी चित्त वृत्तियों को द्रवित अथवा दीप्त करने की शक्ति होती है। उदाहरण के लिए, मधुर वर्णों का सुनकर प्रेम, करुणा आदि भावों का ग्रहण करके हमारे चित्त में एक प्रकार का विकार पैदा हो जाता है, जिस तन्मयता के कारण द्रुति कहते हैं। और महाप्राण वर्णों को सुनकर एवं वीर और रौद्र आदि भावों का ग्रहण करके हमारे चित्त में दूसरे प्रकार का विकार हो जाता है जिसे विस्तार के कारण दीप्ति कहते हैं। परन्तु इन विकारों का पूर्णतः आह्लाद रूप नहीं कह सकते। यहाँ काव्य (वस्तु) भावकत्व की स्थिति को पार करके भोजकत्व की ओर बढ़ रहा है अभी उसमें वस्तु-तत्त्व निःशेष नहीं हुआ। और स्पष्ट शब्दों में हमारी चित्त-वृत्तियाँ उत्तेजित होकर अन्विति की ओर बढ़ रही हैं अभी इनमें पूर्ण अन्विति की स्थापना नहीं हुई, क्योंकि तब तो रस का परिपाक ही हो जाता। जैसा भट्टनायक ने एक जगह संकेत किया है, यह काव्य के भोजकत्व की एक प्रारम्भिक स्थिति है, जो पूर्ण रसत्व की पूर्ववर्ती है। अतएव गुण को अनिवार्यतः आह्लाद रूप न मानकर केवल चित्त की एक दशा ही माना जाय तो उसे सरलता से रस परिपाक की प्रक्रिया में रस दशा से ठीक पहली स्थिति माना जा सकता है जहाँ हमारी चित्त-वृत्तियाँ पिघलकर दीप्त होकर या परिव्याप्त होकर अन्विति के लिए तैयार हो जाती है।

दोष की स्थिति

दोषों को रस का अपकर्षक, मुख्यार्थ में बाधक आदि कहा गया है। भरत ने उन्हें भावमूलक (Positive) मानते हुए गुणों को अभावमूलक (Negative) माना है। दण्डी ने भी उन्हें भावमूलक ही माना है परन्तु वामन ने उन्हें गुणों का विपर्यय कहा है। परवर्ती आचार्यों ने भी उनकी भाव मूलक स्थिति ही स्वीकार की है और यह उचित ही है क्योंकि काणत्व आदि दोष की स्थिति भावमूलक ही है। सुनयनत्व आदि गुणों का अभाव दोष रूप नहीं है। गुणों का अभाव निर्गुणत्व है दोष नहीं। दोषों की संख्या दस से आरम्भ होकर सत्तर तक पहुँच गई है। उनका विभाजन साधारणतः पाँच वर्गों में किया जाता है—पद दोष पदांश दोष, वाक्य दोष, अर्थ दोष और रस दोष। परन्तु यह वर्गीकरण अत्यन्त स्थूल है। तत्त्व रूप में सभी दोषों का रस हानि से सम्बन्ध है और जैसा कि विश्वनाथ ने कहा है वे (१) या तो रस की प्रतीति को रोक लेते हैं, या (२) रस की उत्कृष्टता की विघातक किसी वस्तु को बीच में खड़ा कर देते हैं या (३) रसास्वाद में विलम्ब उपस्थित कर देते हैं। और

गहरे मे जायें तो हम देखते है कि समस्त दोपो का मूल औचित्य का व्यतिक्रम है। औचित्य का अथ है सहज स्थिति या सामान्य व्यवस्था। उसका उत्कष गुण है, अपकष दोप है। साहित्य मे यह औचित्य कई प्रकार का होता है, एक पद विपयक औचित्य, जो शब्द और अथ के सामजस्य पर निभर रहता है, दूसरा व्याकरण विपयक औचित्य, जा पदा की आर्थी व्यवस्था पर आश्रित रहता है, तीसरा बौद्धिक औचित्य, जो हमारी ज्ञान वत्तिया के समन्वय का परिणाम होता है, चौथा भावना विपयक औचित्य, जिसका हमारी भाव-वृत्तियो की अन्विति से सम्बन्ध है। यह औचित्य जहा कही खण्डित हो जाता है वही दोप का आविर्भाव हो जाता है। उदाहरण के लिए पद विपयक औचित्य की हानि से श्रुति कटुत्वादि पद दोपो का जन्म होता है, व्याकरण विपयक औचित्य की हानि से न्यूनपद, समाप्त पुनरात्त आदि प्राय सभी वाक्य दोप उत्पन्न हो जाते हैं। बौद्धिक औचित्य का त्याग प्रसिद्धि-त्याग, भग्न प्रक्रम, अपुष्ट, कष्टाथ आदि दोपो की सृष्टि करता है और भावना विपयक औचित्य खण्डित होकर सीधा रस दोपो की अथवा अश्लीलता, ग्राम्यत्व आदि की सृष्टि करता है। इनमे पहले प्रकार के दोप तो प्राय एन्द्रिय (कणगोचर) सवेदन और मानसिक सवेदन मे असामजस्य उत्पन्न करते हुए दूसरे और तीसरे प्रकार के दोप अथ ग्रहण म बाधक होकर बौद्धिक सवदना को विशृंखल करते हुए, तथा अन्तिम प्रकार के दोप प्रत्यक्ष रूप मे ही हमारी चित्त-वत्तियो की अन्विति म बाधक होते हुए रस का अपकष करते है। श्रुति-कटुत्वादि म विरोधी एन्द्रिय चित्र का मानसिक चित्र पर आरोप होने से गडबड हो जाती है, न्यूनपद, कष्टाथ आदि मे मानसिक चित्र अत्यन्त धुधला और अस्पष्ट उतरता है, और रस-दोपो म दो परस्पर विरोधी मानसिक चित्रो का एक दूसरे पर आरोप होने से भाव-चित्र पूरा नही हो पाता।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय

वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचाय कुन्तक हुए जिन्होने ध्वनि को नही, वक्रोक्ति को काव्य का जीवित (प्राण) माना। उनका उद्देश्य यद्यपि ध्वनि सिद्धान्त का प्रत्यक्ष विरोध करना तो नही था, परन्तु उन्होने उसकी पृथक सत्ता न मानकर उसे वक्रोक्ति के अन्तगत ही माना। वक्रोक्ति शब्द अत्यन्त प्राचीन है। 'कादम्बरी म इसका प्रयोग परिहास जल्पित के अथ म हुआ है। भामह ने इसका अथ 'इष्टा वाचामलङ्कृति' अर्थात् 'अथ और शब्द का-वैचित्र्य' करते हुए उसे सभी अलकारो का मूल माना है। भामह के उपरान्त दण्डी ने वक्रोक्ति को स्वभावोक्ति के विपयय रूप म ग्रहण करते हुए उसे श्लेप

पोषित माना है। साराश यह है कि भामह और दण्डी दोना के अनुसार वक्रोक्ति कथन की उस विचित्र (असाधारण) शैली का नाम है जो साधारण इतिवृत्त शैली से भिन्न होती है—शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम।[1]

परवर्ती आचार्यों मे रुद्रट आदि प्राय सभी ने वक्रोक्ति का शब्दालकार माना है, केवल एक वामन ने अर्थालकार माना है। कुन्तक ने इन सभी का निषेध करते हुए वक्रोक्ति का पृथक अलकार मानने मे इन्कार किया तथा अत्यन्त स्पष्ट और सबल शब्दा म उसे काव्य का जीवन माना है। कुन्तक काव्य को आह्लादकारी सालकार शब्दार्थ का साहित्य (सहित भाव) मानकर चले है।

वक्रोक्ति की व्याख्या उन्होने की वैदग्ध्य भगी भणिति अर्थात् कथन की विचित्रता, जो कवि प्रतिभा पर निर्भर है। वक्रोक्ति की इस व्यापक परिभाषा मे उन्होने शब्दालकार, अर्थालकार, प्रबन्ध कौशल आदि सभी को अन्तर्भूत कर लिया और उसे छह भागा म विभक्त किया, जो वर्ण विन्यास से लेकर घटना विन्यास तक म व्याप्त है। वक्रोक्ति की परिभाषा और महत्त्व का सकेत कुन्तक को भामह म मिला और कवि प्रतिभा का भट्टतौत मे। कुन्तक के परवर्ती आचार्यो ने इस महिमा मण्डित वक्रोक्ति को स्वीकार नही किया। मम्मट आदि ने वक्रोक्ति को वक्रीकृत उक्ति के अर्थ म एक शब्दालकार ही माना। अतएव *वक्रोक्ति सम्प्रदाय कुन्तक से प्रारम्भ होकर उन्ही के बाद समाप्त हो गया।* वास्तव मे, जैसा कि काणे आदि विद्वाना न कहा है वक्रोक्ति सम्प्रदाय अलकार सम्प्रदाय की ही एक शाखा थी जिसके द्वारा कुन्तक न अलकारवादी आचार्यो की वक्रता को हो नवीन काव्य ज्ञान के प्रकाश मे व्यापक रूप देन का कुशल प्रयत्न किया था।

वक्रोक्ति का स्वरूप

वक्रोक्ति का वास्तविक स्वरूप समझन के लिए हम स्वभावत कुन्तक ही की व्याख्या का आश्रय लेना चाहिए।

कुन्तक ने वक्रोक्ति का अर्थ किया है विचित्र विन्यास-क्रम जो एक ओर शास्त्र आदि म प्रयुक्त इतिवृत्तात्मक शब्द और अर्थ के उपनिबन्ध से भिन्न अथवा विशिष्ट होता है, और दूसरी ओर व्यवहारगत साधारण भाषा प्रयोग से, इसीलिए उन्होने वैदग्ध्य-भगी भणिति कहा है। वैदग्ध्य का प्रयोग विद्वत्ता से भिन्न काव्य-नैपुण्य के अर्थ मे बहुत पहले से चला आता था, भगी भणिति से

---

[1] अभिनव

तात्पय था भाषा का वक्र अर्थात् रमणीय प्रयोग, दूसरे शब्दो मे उक्ति चारुत्व। वैदग्ध्य स्वाभाविक कवि प्रतिभा जन्य होता है। अतएव वक्रोक्ति का प्रयोग भी निश्चय ही कवि प्रतिभा जन्य ही होता है। कवि प्रतिभा एव कवि व्यापार से स्वतन्त्र उसका अस्तित्व नही है। यह कवि व्यापार क्या है, इस विषय मे कुन्तक मौन है क्योकि शायद इसे वे अनिवचनीय मानते है। कुन्तक की वक्रता एक पृथक उक्ति मे ही सीमित न रहकर वर्ण विन्यास से लेकर प्रबन्ध रचना तक प्रसारित है। इसी धारणा के अनुसार ही उन्होने वक्रोक्ति अथवा कवि-व्यापार-वक्रता के छह भेद माने है—१ वर्ण विन्यास वक्रता, २ पद पूर्वाध-वक्रता, ३ पद पराध अथवा प्रत्यय वक्रता, ४ वाक्य-वक्रता, ५ प्रकरण वक्रता, और ६ प्रबन्ध वक्रता। वर्ण विन्यास वक्रता के अन्तगत यमक जैसे शब्दालकार और उपनागरिका आदि वृत्तियो का नाद सौन्दय आता है। पद पूर्वाध के अनेक भेद किए गए है, जिनमे प्रमुख है—(क) रूढि वक्रता (इसमे शब्द का साधारण अभिधार्थ से भिन्न रूढ अर्थ मे प्रयोग होता है, रूढि लक्षणा के प्रयोग प्राय इसके अन्तगत आते हैं), (ख) पर्याय वक्रता (इसके अन्तगत पद गत औज्ज्वल्य एव पद चयन की गणना होती है), (ग) विशेषण वक्रता (यहाँ विशेषण कारक, क्रिया आदि का चारु प्रयोग होता है। साधारणत पृथक पद गत सौन्दय इसके अन्तगत आता है) प्रत्यय वक्रता मे वैचित्र्य प्रत्यय के वक्र प्रयोग के आश्रित होता है। हिन्दी मे यह प्राय अव्यवहार्य ही है। वाक्य वक्रता मे अर्थालकारो का अन्तर्भाव हो जाता है—सूक्ति आदि नवीन वाक्य भगिमाएँ भी इसी के अन्तगत आती हैं। प्रकरण वक्रता प्रबन्ध वक्रता का क्षेत्र अधिक व्यापक है। उनका सम्बन्ध मुक्तक से न होकर प्रबन्ध रचना से है। इनमे प्रकरण-वक्रता से तात्पय उन स्वतन्त्र उदभावनाओ का है जिनके द्वारा कवि मूल कथा मे रमणीयता उत्पन्न करता है, और प्रबन्ध वक्रता से तात्पय समस्त कथा के प्रबन्ध-कौशल का है। यहाँ मूल कथा को कवि अपनी प्रतिभा और प्रकृति के अनुसार एक नवीन रूप प्रदान कर देता है। प्रकरण वक्रता प्रकरण विशेष से सम्बद्ध है 'शाकुन्तलम्' मे दुर्वासा शाप प्रकरण की उदभावना इसका उदाहरण है। प्रबन्ध वक्रता का सम्बन्ध समस्त कथा के घटना विधान से है जैसा कि 'रामायण' तथा 'महाभारत' मे मिलता है, अथवा 'किराताजुनीयम्' मे जहाँ किसी प्रसिद्ध कथा की एक घटना पर दूसरा ढाँचा खडा कर दिया जाता है। प्रबन्ध वक्रता मे रसोत्कष का भी बहुत महत्त्व माना गया है। इस प्रकार कुन्तक ने वक्रोक्ति को समस्त कवि-व्यापार या कौशल से एकरूप करके देखा है।

इस विवेचन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं

१ वक्रोक्ति के लिए वैचित्र्य अनिवार्य है। उसमे किसी न किसी प्रकार की असाधारणता अवश्य होनी चाहिए।

२ वक्रोक्ति की इस परिभाषा मे प्राय सभी प्रकार का काव्य आ जाता है। सिद्धान्त रूप से यद्यपि कुन्तक ने स्वभावोक्ति म काव्यत्व का निषेध किया है, परन्तु व्यवहार रूप म वक्रोक्ति की व्याख्या करते हुए उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया है कि वस्तुओ के स्वभाव का सफल अकन प्राय बाह्य अलकारो से सज्जित वर्णन की अपेक्षा अधिक आह्लादकारी होता है। परन्तु व इस बात पर बल देते है कि वस्तु (स्वभाव) के तत्वा का चयन साधारण दृष्टि से न होकर कवि दृष्टि से ही होना चाहिए। अर्थात यह वर्णन वस्तु परिगणन मात्र न होकर कवि व्यापार जन्य होना चाहिए। मैं समझता हूँ स्वभावोक्ति को स्पष्ट रूप से अलकार और काव्य के अन्तर्गत मानने वाले पण्डितो को भी इस परिभाषा मे कोई आपत्ति नही हो सकती क्योकि लगभग सभी ने साधारण वस्तु परिगणन का तिरस्कार करते हुए उसमे कवि-कौशल को ही अनिवार्य माना है।

३ सिद्धान्त रूप म ध्वनि रसवादियो से कुन्तक का एक मतभेद है। ध्वनिवादी वक्रोक्ति को ध्वनि के अन्तर्गत मानते है। कुन्तक ध्वनि को वक्रोक्ति के अन्तर्गत मानते ह और ध्वनि तथा रस मे रहित भी वक्रोक्ति एव तदनुसार काव्यत्व की स्थिति स्वीकार करते ह परन्तु यदि आप गहराई मे जाकर देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि यह भेद भी केवल सिद्धान्त का है, व्यवहार का नही—व्यवहार मे वक्रोक्ति और ध्वनि को एक दूसरे स सवथा रहित नही पाया जाता, क्योकि इन दोनो की अपनी अपनी परिभाषाएँ इतनी लोक व्यापक हैं कि किसी का भी कोई रूप दूसरे से बाहर नही पड सकता। वास्तव मे, कुन्तक की वक्रोक्ति अतिव्याप्त तो अवश्य मानी जा सकती है परन्तु अव्याप्त नही अर्थात विश्लेषण करने पर कोई भी ऐसा उदाहरण न मिलेगा, जिसमे काव्यत्व तो असदिग्ध हो परन्तु कुन्तक की वक्रोक्ति या वक्रता न हो। कारण स्पष्ट है—जहा रसत्व है वहा कवि व्यापार अनिवार्यत वर्तमान होगा, और जहा कवि व्यापार होगा वहा वक्रोक्ति का अभाव कसे हो सकता है? इसी दृष्टि से कुन्तक ने रस को पूर्ण महत्त्व दिया है।

कुन्तक मे अब एक शब्द रह जाता है जो आज के आलोचक की समझ म नही आता—कवि व्यापार। उन्होंने कवि व्यापार को विधि व्यापार की भाति व्याख्यातीत मानते हुए उसकी परिभाषा तो नही की परन्तु उसका वर्णन आगे चलकर किया है। कवि-व्यापार के तीन विभाग है—शक्ति

व्युत्पत्ति और अभ्यास जिनकी अभिव्यक्ति के माध्यम हैं क्रमश सुकुमार, विचित्र और मध्यम मार्ग। इन मार्गों के आधार हैं गुण जिनमें माधुर्य प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य को हम विशेष गुण कह सकते हैं, तथा औचित्य और सौभाग्य को सामान्य गुण। इस प्रकार कुन्तक ने (रीति सिद्धान्त को भी अन्तर्भूत करते हुए) कवि-व्यापार के बाह्य रूप का वर्णन तो किया है परन्तु उसके आन्तरिक स्वरूप की व्याख्या नहीं की। वास्तव में, भारतीय विचार-परम्परा के अनुसार वे भी कवि को एक असाधारण (Abnormal) व्यक्ति समझते थे और कवि प्रतिभा को जन्मान्तरगत पुण्यों के फलस्वरूप प्राप्त एक दैवी शक्ति।

विवेचन

कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धान्त यद्यपि स्वीकार्य नहीं हुआ परन्तु फिर भी उसका तिरस्कार इतनी सरलता से नहीं हो सकता जितनी सरलता से कि आचार्य शुक्ल ने कर दिया है। उसके दो पक्ष हैं—१ प्रत्येक वक्रोक्ति काव्य है, २ प्रत्येक काव्योक्ति में वक्रता अनिवार्यत होती है। इनमें से पहला पक्ष तो आज मान्य नहीं हो सकता क्योंकि इस प्रकार तो ऐसी उक्तियों को भी, जिनमें साधारण बौद्धिक चमत्कार के कारण एक प्रकार की वक्रता वर्तमान रहती है, काव्य मानना पड़ेगा। किसी प्रकार का भी बौद्धिक चमत्कार उक्ति को वक्रता प्रदान तो सदैव कर सकता है परन्तु उसे सरस सदैव नहीं बना सकता। इसीलिए तो बाद के रसवादियों ने चित्र-काव्य को काव्य की सीमा से बहिष्कृत कर दिया, यद्यपि ध्वनिकार ने उसे अधम काव्य की पदवी अवश्य दे दी थी। अतएव कम-से-कम ऐसी वक्रता को जिसका रस से दूर का भी सम्बन्ध न हो, काव्य नहीं माना जा सकता। वक्रोक्ति सिद्धान्त का दूसरा पक्ष है कि प्रत्येक काव्योक्ति में वक्रता अनिवार्यत होगी। यह पक्ष बाह्यत अधिक विश्वसनीय न होते हुए भी वक्रता का वास्तविक आशय स्पष्ट होने पर, किसी प्रकार असगत नहीं कहा जा सकता। इधर तो वक्रता में कुन्तक ने (बात को घुमा फिराकर कहने को ही नहीं) सभी प्रकार के वैचित्र्य वैशिष्ट्य अथवा असाधारणत्व को अन्तर्भूत कर लिया है, और उधर यह एक स्वत स्पष्ट मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि प्रत्येक भाव दीप्त या रस दीप्त उक्ति साधारण इतिवृत्तात्मक कथन की अपेक्षा कुछ विशिष्टता या विचित्रता अवश्य लिये होगी। हिन्दी के एक विद्वान का कथन है कि इस वक्रोक्ति में स्वभावोक्ति और इस वक्रता में तीव्रता के लिए स्थान नहीं है परन्तु यह असत्य है। जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कुन्तक ने स्वभावोक्ति के केवल इतिवृत्त वर्णन रूप को

ही अस्वीकृत किया है। उनकी वक्रता का इतिवृत्तात्मकता से ही विरोध है तीव्रता से नहीं, क्योंकि उन्होंने रस को निश्चय ही वक्रोक्ति के उत्पादक तत्त्वों में से माना है। उक्ति की तीव्रता रस (या भाव) के आश्रित है और रस वक्रोक्ति के अंतर्गत है, अतः तीव्रता भी उसके अंतर्गत हुई।

कुन्तक से हम केवल क्रम विषयक मतभेद ही रख सकते हैं। उनका मत है कि काव्य का आह्लाद (रस) उक्ति वक्रता-जन्य है, परन्तु वास्तविकता यह है कि आह्लाद के कारण ही उक्ति में वक्रता आती है। अपने उद्दीप्त मनोविकारों का भावन करने में कवि को एक विशेष प्रकार के आह्लाद अथवा रस का अनुभव होता है और इसी आह्लाद या रस के कारण उसकी उक्ति में वक्रता आ जाती है। इस तथ्य का विस्तृत विवेचन रस प्रसंग में हो चुका है। अतएव काव्य का प्राण रस ही रहेगा, वक्रोक्ति उसका अनिवार्य माध्यम होती हुई भी उसका जीवन नहीं हो सकती। कुन्तक धुर मूल तक न पहुँचकर उससे एक मंजिल पहले ही रुक गए हैं और उसी को आखिरी मंजिल मान बैठे हैं—उनके सिद्धान्त का यही दोष है। पश्चिमी आलोचना की शब्दावली में कह तो यह कह सकते हैं कि उन्होंने कल्पना-तत्त्व को भाव तत्त्व की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है—वैदग्ध्य कवि कौशल आदि पर जो इतना बल दिया गया है वह वास्तव में कल्पना-तत्त्व को ही महत्त्व दिया गया है।

वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद

कुन्तक के वक्रोक्तिवाद के साथ क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की चर्चा की जाती है। आचार्य शुक्ल ने तो अभिव्यंजनावाद को वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान ही कह दिया है। शुक्लजी की इस उक्ति को भी हम साधारण अर्थवाद के रूप में ही ग्रहण कर सकते हैं इससे आगे नहीं क्योंकि इन दोनों में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानना अर्थात क्रोचे को किसी प्रकार भी कुन्तक का ऋणी मानना हास्यास्पद होगा। वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद के सापेक्षिक अध्ययन के लिए पहले क्रोचे का मूल सिद्धान्त स्पष्ट हो जाना चाहिए।

क्रोचे मूलतः आत्मवादी दार्शनिक हैं जिसने अपने ढंग से उन्नीसवीं शताब्दी की भौतिकता के विरुद्ध आत्मा की अन्त सत्ता की प्रतिष्ठा की है। वह आत्मा की दो क्रियाएँ मानता है एक विचारात्मक और दूसरी व्यवहारात्मक। विचारात्मक क्रिया के दो रूप हैं—सहजानुभूति और तर्क। व्यवहारात्मक के भी दो रूप हैं—आर्थिक और नैतिक। कला का प्रत्यक्ष सम्बन्ध सहजानुभूति से है। किसी वस्तु के संसर्ग से हमारी आत्मा में कतिपय अरूप आकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनको वह अपनी सहज शक्ति कल्पना द्वारा समन्वित करके एक

पूर्ण बिम्ब रूप दे देती है और इस प्रकार हमे उस वस्तु की सहजानुभूति हो जाती है जो बौद्धिक ज्ञान से सर्वथा स्वतन्त्र होती है।

यह सहजानुभूति अभिव्यजना भी है अथवा केवल अभिव्यजना ही है। क्योंकि उससे पृथक् इसका कोई आकार नही। जो अभिव्यजना द्वारा व्यक्त नही होता, उसका सहजानुभव ही नही होता—वह सवेदन या ऐसा ही कोई व्यक्तिगत विकार मात्र होता है। हमारी आत्मा के पास सहजानुभव करने का केवल एक ही साधन है—अभिव्यजना। सफल अभिव्यजना या केवल अभिव्यजना ही—क्योंकि असफल अभिव्यजना तो अभिव्यजना ही नही है—कला अथवा कलात्मक सौदर्य है। कलात्मक सौदर्य मे श्रेणियाँ नही हो सकती, क्योंकि उसका तो केवल एक ही रूप होता है। अतएव उसमे अधिक सुदर अथवा अधिक व्यजक की कल्पना ही सम्भव नही, हाँ कुरूपता—जो असफल व्यजना का दूसरा नाम है—श्रेणी सापेक्ष्य है, उसकी कुरूप से लेकर कुरूपातिकुरूप तक अनेक श्रेणियाँ हो सकती है। इसी कारण क्रोचे अभिव्यजना अथवा कला के वर्गीकरण को निरर्थक समझता है—अभिव्यजना तो एक स्वतन्त्र इकाई है, जो वर्ग कभी नही बन सकती। इसलिए वह अलकार और अलकार्य के भेद का निषेध करता है और अलकारो के नामकरण आदि को भ्रामक मानता है। इसीलिए वह अनुवाद को भी असम्भव मानता है, क्योंकि अनुवादक की सहजानुभूति कवि की सहजानुभूति कैसे हो सकती है। उसके लिए शैली और कवि व्यापार का भी इसी कारण कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। अपने इसी तर्क के आधार पर क्रोचे काव्य मे वस्तु और अभिव्यजना मे अभेद मानता है। वह वस्तु की सत्ता का निषेध तो नही करता परन्तु उसको अरूप प्रकृतियों से अधिक और कुछ नही मानता। काव्य वस्तु का महत्त्व हमारे लिए तभी है, जब वह आकार धारण कर लेती है। अपने अमूर्त रूप मे वस्तु जड है—निष्क्रिय है, हमारी आत्मा इसका अनुभव तो करती है पर सृजन नही कर पाती। सृजन बिना आकार के सम्भव नही है, अतएव कला मे आकार से भिन्न वस्तु का कोई अस्तित्व हमारे सामने नही होता। यह ठीक है कि वस्तु वह तत्त्व है जो आकार मे परिणत होता है, परन्तु आकार मे परिणत होने से पूर्व उसकी कोई निश्चित रूपरेखा तो होती ही नही। इस प्रकार वस्तु और आकार का कला मे पृथक् अस्तित्व नही माना जा सकता।

यहाँ तक तो हुई अभिव्यजना के आन्तरिक रूप की बात। पर क्रोचे अभिव्यजना के आन्तरिक रूप और बाह्य रूप मे अर्थात् कला और कला-कृति मे अन्तर मानता है। कला आध्यात्मिक क्रिया है कला-कृति उसका मूर्त प्राकृतिक

रूप, जो सदैव अनिवार्य नही होता। कला-सृजन की सम्पूर्ण प्रक्रिया पाच चरणो मे विभक्त की जा सकती है—(अ) अरूप सवेदना, (आ) अभिव्यजना अर्थात सवेदनो की आन्तरिक समन्विति, (इ) आनन्दानुभूति (सौन्दर्य-जन्य आनन्द की अनुभूति) (ई) सौन्दर्यानुभूति का ध्वनि, रग, रेखा आदि प्राकृतिक तत्त्वो मे अनुवाद, और अन्तिम (उ) काव्य, चित्र इत्यादि कला-कृति। कहने की आवश्यकता नही कि पाचो मे मुख्य क्रिया दूसरी ही है।

साराश यह है कि

१ अभिव्यजना एक सहज स्वतन्त्र आध्यात्मिक क्रिया है, जिसका आधार मूलत कल्पना है।

२ अभिव्यजना की सफलता ही सौन्दर्य है। सौन्दर्य की श्रेणिया नही हो सकती।

३ व्यजक उक्ति और व्यग्य भाव एक दूसरे से पृथक् नही हो सकते। व्यग्य भाव का व्यजक उक्ति से पृथक अस्तित्व नही है।

४ अभिव्यजना का केवल एक अविभाज्य रूप ही होता है। अतएव काव्य मे शैली, अलकार आदि का पृथक महत्त्व नही होता।

ऊपर के विवेचन से यह तो स्पष्ट ही है कि शुक्लजी कृत वक्रोक्तिवाद और अभिव्यजनावाद का एकीकरण दूरारूढ कल्पना पर आश्रित नही है। दोनो मे पर्याप्त साम्य है, यद्यपि वैषम्य भी कम नही है।

साम्य

१ क्रोचे और कुन्तक दोनो ही कला या कविता को आत्मा की क्रिया मानते है जो अनिर्वचनीय है।

२ दोनो ही वस्तु की अपेक्षा अभिव्यजना को अधिक महत्त्व देते है अर्थात उक्ति मे काव्यत्व (सौन्दर्य) मानते है वस्तु या भाव मे नही।

३ दोनो ही सौन्दर्य मे श्रेणिया नही मानते क्योकि सफल अभिव्यजना ही सौन्दर्य है और सफल अभिव्यजना केवल एक हो सकती है।

कुन्तक—

न च रीतीनाम उत्तमाधममध्यमभेदेन त्रैविध्यम व्यवस्थापयितु न्याय्यम।

क्रोचे—

The beautiful does not possess degrees for there is no conceiving a more beautiful, that is an expressive that is more expressive and adequate that is more adequate

वधम्य

१ वक्रोक्तिवाद और अभिव्यजनावाद का मुख्य अतर तो यह है कि वक्रोक्तिवाद का सम्बध उक्ति वक्रता से ह, अभिव्यजनावाद का केवल उक्ति से है। वक्रोक्तिवाद एक साहित्यिक वाद है, अभिव्यजनावाद अभिव्यजना की फिलासफी। वक्रोक्तिवाद जहा एक प्रकार का कवि कौशल है वहा अभिव्यजना वाद एक आध्यात्मिक आवश्यकता है।

"वक्रोक्तिकार नित्य की बोल चाल की रीति से सतुष्ट नही होते, 'वक्रत्व प्रसिद्ध प्रस्थान व्यतिरेक वैचित्र्यम । म तो यह कहूँगा कि अभिव्यजनावाद मे स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति का भेद ही नही है। उक्ति केवल एक ही प्रकार की हो सकती है। यदि पूर्ण अभिव्यक्ति वक्रोक्ति द्वारा होती है तो वही स्वभावोक्ति या उक्ति है। वही कला है। वाग्वैचित्र्य का मान वैचित्र्य के कारण नही है, वरन यदि है तो पूर्ण अभिव्यक्ति के कारण। अभिव्यजनावाद मे ही उक्ति के लिए स्थान है, न उसम प्रस्तुत अप्रस्तुत का भेद है न स्वभावोक्ति वक्रोक्ति का।'

२ वक्रोक्तिवाद अलकार को लकर चला है अभिव्यजनावाद मे उसकी सत्ता ही अमान्य है वहा यदि वह आ भी जाता है तो अलकार रूप म नही सहज उक्ति के रूप म ही आता है।

३ वक्रोक्तिवाद म वस्तु की उक्ति (कवि-कौशल) से पृथक सत्ता मानी गई है। कुन्तक ने वस्तु के सहज और आहार्य दो भेद किए है, प्रकरण वक्रता अथवा प्रबध वक्रता का सम्पूर्ण विवेचन ही वस्तु और कवि-कौशल के पार्थक्य पर आश्रित है परन्तु अभिव्यजनावाद वस्तु को उक्ति से अभिन्न मानता ह।

४ वक्रोक्तिवाद मे कला की समस्या को बाहर से छेडा गया है, अभिव्यजनावाद म भीतर से। इसीलिए वक्रोक्तिवाद जहाँ काव्य अर्थात कला के मूर्त रूपो पर ही केंद्रित है, वहाँ अभिव्यजनावाद उनके प्रति उदासीन होकर केवल सूक्ष्म आध्यात्मिक क्रिया को ही सब-कुछ मानता है।

५ अभिव्यजनावाद सहजानुभूति अर्थात भाव-प्रकृतियो की अन्विति पर आश्रित है अतएव रस (भाव) से उसका सम्बध अतरग और तात्त्विक है, परन्तु वक्रोक्ति कवि कौशल पर आश्रित है इसलिए उसका रस से सम्बध बहिरग एव औपाधिक है। अभिव्यजनावाद का तत्त्व रूप मे रसवाद से कोई विरोध हो नही सकता।

आचार्य शुक्ल की आलोचना

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वक्रोक्तिवाद और अभिव्यजनावाद का एक

करते हुए उन पर कुछ कठिन प्रहार किए है। उनमे सबसे मुख्य यह है कि य 'अनुभूति या प्रभाव का विचार छोड़कर केवल वाग्वैचित्र्य का लेकर चले है, पर वाग्वैचित्र्य का हृदय की गम्भीर वृत्तियो स कोई सम्बन्ध नही। वह केवल कौतूहल उत्पन्न करता है।" अभिव्यजनावाद तो बेचारा अभिव्यजना को छोड कर किसी वाग्वैचित्र्य की बात ही नही करता है। हाँ, वक्रोक्तिवाद अवश्य उसका गुनहगार है परन्तु जैसा कि मैंने ऊपर स्पष्ट किया है, उसके वैचित्र्य का स्वरूप इतना व्यापक है कि उसके अन्तर्गत सभी प्रकार की उक्ति रमणीयता आ जाती है। वास्तव म कुन्तक की 'वक्रता या 'वैचित्र्य' और शुक्ल जी की प्रिय रमणीयता' म कोई भी अन्तर नही है। कौतूहल-जनक चमत्कार को कुन्तक न बहिष्कार तो नही किया, परन्तु उस अत्यन्त हेय माना है। फिर ऐसी उक्ति जिसमे रस हो परन्तु वक्रता न हो, सामने लाना भी तो आसान नही है। शुक्लजी द्वारा उद्धत पद्माकर की यह रमणीय उक्ति नैन नचाय कही मुसकाय लला फिर आइयो खेलन होरी सीधी-सादी नही है, इसकी वक्रता की कैफियत तो उन लला से पूछिए जिनस 'नैन नचाकर और 'मुसकाकर' यह कहा गया था कि फिर आइयो खेलन होरी।

फाग के भीर अभीरनि त्यो गहि गोविन्द लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की पद्माकर ऊपर नाय अबीर की झोरी॥
छीन पिताम्बर कम्मर त सु बिदा दई मीड कपोलनि रोरी।
नैन नचाय कही मुसकाय लला फिर आइयो खेलन होरी॥[१]

हमे आश्चर्य है कि व्यग्य स वक्र इस उक्ति को आचार्य सीधा-सादी कैसे मान बैठे?

शुक्लजी का दूसरा आक्षेप यह है कि इनमे अभिव्यजना या उक्ति ही सब कुछ है वह वस्तु जिसकी अभिव्यजना की जाती है, कुछ नही, परन्तु यह तो शुक्लजी स्वय भी मानते है कि काव्यत्व उक्ति म रहता है व्यग्य वस्तु या भाव म नही। रही वस्तु के महत्त्व की बात तो उक्ति वक्रता अथवा अभि व्यजना का महत्त्व देते हुए भी इन दोनो वादो म वस्तु का सर्वथा तिरस्कार नही किया गया। कुन्तक ने तो वस्तु को निश्चय ही पर्याप्त महत्त्व दिया है स्वय उसका पृथक विवेचन किया है। उधर क्रोचे ने भी प्राकृतिक वस्तु[२] को कला का उद्दीपक तथा कला-वस्तु अर्थात अरूप भाव प्रकृतियो या सवेदनो को

---

[१] जगद्विनोद
[२] Natural objects

कला का मूल उदगम अथवा मूलाधार मानते हुए उसे गौरव स सवथा वचित नही किया। अतर केवल यही है कि शुक्लजी काव्य को वस्तु-दृष्टि स परखत हुए उसम वस्तु और अभिव्यजना का निश्चित पाथक्य मानते है, क्रोचे दाना मे निश्चित भेद असम्भव मानत है। पर क्रोचे शुक्ल क इस विवाद मे आज का साहित्यिक शायद क्रोचे का अपना वाट दगा।

ध्वनि सम्प्रदाय

अन्य सम्प्रदाया की भाँति ध्वनि-सम्प्रदाय का जन्म भी उसके प्रतिष्ठापक अथवा प्रतिष्ठापकद्वय (?) के जन्म से बहुत पूव ही हुआ था। स्वय ध्वनि कार ने ही अपने पहल छन्द म इस तथ्य को स्पष्ट शब्दा म स्वीकार किया है—'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधय समाम्नातपूव'[1] अर्थात काव्य की आत्मा ध्वनि ह एसा मेरे पूववर्ती विद्वाना का भी मत है। वास्तव म, इस सिद्धान्त के मूल सकेत उनके समय स बहुत पहल वैयाकरणा के सूत्रा म विस्फोट आदि के विवेचन म मिलत है। इसके अतिरिक्त भारतीय दशन म भी व्यजना एव अभिव्यक्ति (दीपक से घर) की चर्चा बहुत प्राचीन है। ध्वनिकार से पूव रस, अलकार और रीतिवादी आचाय अपने-अपन सिद्धान्ता का पुष्ट प्रतिपादन कर चुके थे, और यद्यपि वे ध्वनि सिद्धान्त से पूणत परिचित नही थे, परन्तु फिर भी आनन्दवद्धन का कहना है कि व कम से-कम उसके सीमान्त तक अवश्य पहुँच गए थे। अभिनवगुप्त न पूववर्ती आचार्यों म उदभट और वामन को साक्षी रूप माना है। उदभट का ग्रन्थ 'भामह विवरण आज उपलब्ध नही है, अतएव हमे सबसे प्रथम ध्वनि-सकेत वामन के वक्रोक्ति विवेचन म ही मिलता है—**'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति'**। लक्षण म जहाँ सादृश्य गर्भित होता है वहा वह वक्रोक्ति कहलाती है। सादृश्य की यह व्यजना ध्वनि के अन्तगत आती है, इसीलिए वामन को साक्षी माना गया है।

विद्वाना का मत है कि इसा की ९वी शताब्दी के मध्य म ध्वन्यालोक' की रचना हुई। 'ध्वन्यालोक' एक ही लेखक आनन्दवद्धन की कृति है, अथवा आनन्दवद्धन केवल वृत्तिकार थे, कारिका उनके पूववर्ती या समसामयिक किसी अन्य आचाय न रची है इस विषय पर पण्डिता के विभिन्न मत है। डॉक्टर बुहलर और उनके अनुसरण पर डा० डे तथा प्रोफेसर काणे आदि का मत है कि मूल ध्वनिकार और वृत्तिकार आनन्दवद्धन दो भिन्न व्यक्ति थे, उधर डॉ० शकरन न अनक प्रकार के अन्तर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य के आधार पर सस्कृत

---

[1] ध्वन्यालोक १ १

आचार्यों की मान्यता को ही स्वीकार करते हुए दोनों को एक माना है। यह विवाद अभी किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा, अतएव हिन्दी के विद्यार्थी का इसमें उलझने की आवश्यकता नहीं है—यहाँ हम इस समय तो बहुमत के सिद्धान्तानुसार दोनों को पृथक ही मान लेते हैं।

'ध्वन्यालोक' एक युग प्रवर्तक ग्रन्थ था। उसके रचयिता ने अपनी असाधारण मेधा के बल पर एक ऐसे सार्वभौम सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की जो युग युग तक सर्वमान्य रहा। अब तक जो सिद्धान्त प्रचलित थे वे प्रायः सभी एकांगी थे—अलंकार और रीति तो काव्य के बहिरंग को ही छूकर रह जाते थे, रस सिद्धान्त भी ऐन्द्रिय आनन्द के प्रति उदासीन था। इसके अतिरिक्त उसमें दूसरा दोष यह था कि प्रबन्ध-काव्य के साथ तो उसका सम्बन्ध ठीक बैठ जाता था, परन्तु स्फुट छन्दों के विषय में विभाव, अनुभाव व्यभिचारी आदि का संघटन सर्वत्र न हो सकने के कारण कठिनाई पड़ती थी, और प्रायः अत्यन्त सुन्दर पदों को भी उचित गौरव न मिल पाता था। ध्वनिकार ने इन त्रुटियों को पहचाना और सभी का उचित परिहार करते हुए शब्द की तीसरी शक्ति व्यंजना पर आश्रित ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया। ध्वनिकार ने अपने सामने दो निश्चित लक्ष्य रखे हैं—१ ध्वनि सिद्धान्त की निर्भ्रान्त शब्दों में स्थापना करना तथा यह सिद्ध करना कि पूर्ववर्ती किसी भी सिद्धान्त के अन्तर्गत उसका समाहार नहीं हो सकता। २ रस अलंकार रीति, गुण और दोष विषयक सिद्धान्तों का सम्यक परीक्षण करते हुए ध्वनि के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित करना, और इस प्रकार काव्य के एक सर्वांगपूर्ण सिद्धान्त की रूपरेखा बाँधना। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति में ध्वनिकार अपने वृत्ति लेखक आनन्दवर्द्धन की सहायता से सर्वथा सफल हुए हैं।

संक्षेप में, ध्वनि सिद्धान्त इस प्रकार है काव्य की आत्मा ध्वनि है, अर्थात काव्य में मुख्यतः वाच्यार्थ का नहीं वरन व्यंग्यार्थ का सौन्दर्य होता है। व्यंग्यार्थ की महत्ता के अनुपात में काव्य के तीन भेद हो सकते हैं—उत्तम अथवा ध्वनि काव्य, मध्यम अथवा गुणीभूतव्यंग्य काव्य और अधम अर्थात चित्र काव्य। ध्वनि स्वयं तीन प्रकार की होती है—वस्तु ध्वनि अलंकार ध्वनि, और रस ध्वनि। इन तीनों में रस ध्वनि ही सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रकार इन आचार्यों ने भी रस को ही सर्वश्रेष्ठ काव्य तत्त्व माना है, और जहाँ रस सर्वथा निःशेष है जैसे चित्र-काव्य में—वहाँ केवल वाग् विकल्प की ही स्थिति मानी है। इसीलिए तो आधुनिक विद्वान ध्वनि सिद्धान्त को रस सिद्धान्त का ही विस्तार-सूत्र मानते हैं और यह बहुत अंशों में ठीक भी है।

यह सब होते हुए भी ध्वनि सम्प्रदाय इतना लोकप्रिय न होता यदि अभिनवगुप्त की प्रतिभा का वरदान उसे न मिलता। उनके 'लोचन' का वही गौरव है जो 'महाभाष्य' का है। अभिनव ने अपनी अतलदर्शी प्रज्ञा और प्रौढ विवेचना के द्वारा ध्वनि विषयक समस्त भ्रान्तियो और आक्षेपो को निर्मूल कर दिया और उधर रस की प्रतिष्ठा को अकाटय शब्दो मे स्थित किया। अभिनव एक प्रकार मे रसवादी ही थे। उन्होने ध्वनि को प्राय रस के सम्बन्ध से ही महत्त्व दिया है।

परन्तु यह समझना असगत होगा कि ध्वनि सिद्धान्त निर्विरोध स्थापित हो गया था। आनन्दवर्द्धन के उपरान्त ही भट्टनायक ने व्यजना के अस्तित्व का निषेध करते हुए भावकत्व और भोजकत्व दो काव्य शक्तियो की उद्भावना की। किन्तु अभिनवगुप्त ने सबल तर्कों द्वारा उनको अनर्गल प्रमाणित किया एव व्यजना की ही पुष्टि की। भट्टनायक के पश्चात ध्वनिवाद को कुन्तक और महिमभट्ट जैसे पराक्रमी विरोधियो का सामना करना पडा। कुन्तक ने ध्वनि को वक्रोक्ति के अन्तर्गत ही ग्रहण करके उसको काव्य की आत्मा मानने से इन्कार कर दिया, उधर महिमभट्ट ने कहा कि व्यजना की उदभावना ही तर्क-सम्मत नही है। शब्द की केवल दो ही शक्तिया मानी गई है—अभिधा और लक्षणा, यह तीसरी शक्ति व्यजना कहा से आ गई! वे स्वय तो शब्द की केवल एक ही शक्ति मानते है—अभिधा, वास्तव मे जिसे व्यजना कहा गया है, वह स्वतन्त्र शब्द शक्ति न होकर केवल अनुमान का ही एक विशेष भेद है—जिसे उन्होने नाम दिया 'काव्यानुभूति'। इसी काव्यानुभूति के द्वारा सहृदय को रसानुभूति होती है। महिमभट्ट का यह सिद्धान्त स्पष्टत ही श्री शकुक के अनुमितिवाद से प्रभावित था और उसी की तरह यह भी ग्राह्य न हो सका। भट्टनायक कुन्तक और महिमभट्ट के परास्त हो जाने पर ध्वनि का राज्य एक प्रकार से अकण्टक ही हो गया। परवर्ती आचार्यों मे मम्मट ने लगभग सभी प्रचलित विचारो का खण्डन मण्डन करते हुए ध्वनि का विस्तृत विवेचन किया। ध्वनि के भेद प्रभेद बढते बढते अब १०,४४५ तक पहुँच गए थे। विश्वनाथ ने ध्वनि की अपेक्षा रस को अधिक महत्त्व देने का प्रयत्न किया परन्तु उनका विरोध पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा बडे जोर से हुआ। पण्डितराज ने ध्वनिकारकृत काव्य के तीन भेदो मे सन्तुष्ट न होकर उनमे एक भेद 'उत्तमोत्तम' की और वृद्धि की। इस प्रकार गुणीभूतव्यग्य का, जिसे कि ध्वनिकार ने निश्चित ही मध्यम काव्य-श्रेणी मे रख दिया था, उत्तम काव्य का गौरव प्राप्त हो गया। वास्तव मे ध्वनि और रस सिद्धान्तो का समन्वय,

जिसका आरम्भ अभिनव ने ही कर दिया था, इस समय तक आते आते पूर्ण हो चुका था, और अब आचार्य दोनों में विशेष भेद नहीं करते थे। हिन्दी रीति ग्रन्थों को जो परम्परा प्राप्त हुई, उसमें ध्वनि का रस में बहुत-कुछ अन्तर्भाव हो चुका था, इसलिए हिन्दी के आचार्यों ने ध्वनि का साधारण रूप से उल्लेख करते हुए रस का ही विवेचन किया है। फिर भी कुलपति, प्रतापसाहि आदि ने काव्य का जीवन ध्वनि को ही माना है, रस को नहीं।

ध्वनि का आधार और स्वरूप

ध्वनिकार ने अपने सिद्धान्त का आधार वैयाकरणों के स्फोट में ग्रहण किया है। जिसके द्वारा अर्थ का प्रस्फुटन हो वही स्फोट है। यह स्फोट शब्द, वाक्य और समस्त प्रबन्ध तक का होता है। शब्द-स्फोट का एक उदाहरण लीजिए—गौ शब्द में ग औ और विसर्ग ये तीन वर्ण हैं—इन तीनों वर्णों में से गौ का अर्थ बोध किसके द्वारा होता है? *यदि यह कहें कि प्रत्येक वर्ण के* उच्चारण द्वारा तो एक वर्ण ही पर्याप्त होगा। शेष दो व्यर्थ हैं। और यदि यह कहें कि तीनों वर्णों के समुदाय के उच्चारण द्वारा तो वह असम्भाव्य है क्योंकि कोई भी वर्ण ध्वनि दो क्षण से अधिक नहीं ठहर सकती, अर्थात विसर्ग तक आते आते ग की ध्वनि का लोप हो जायगा, जिसके कारण तीनों वर्णों के समुदाय की ध्वनि का एक साथ होना सम्भव न हो सकेगा। अतएव अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन के उपरान्त वैयाकरणों ने स्थिर किया कि अर्थबोध शब्द में स्फोट द्वारा होता है—अर्थात पूर्व वर्णों के संस्कार अन्तिम वर्ण के उच्चारण के साथ संयुक्त होकर शब्द का अर्थबोध कराते हैं यही स्फोट है, जिसका दूसरा नाम 'ध्वनि' भी है। जिस प्रकार पृथक पृथक् वर्णों की आवाज़ सुनकर *भी अर्थबोध नहीं होता वह केवल स्फोट या ध्वनि के द्वारा ही होता है,* इसी तरह शब्दों का वाच्यार्थ ग्रहण करके भी काव्य के सौन्दर्य का अनुभव नहीं होता—वह केवल व्यंग्यार्थ या ध्वनि द्वारा ही होता है, और व्यंग्यार्थ का बोध शब्द की अभिधा, लक्षणा से इतर एक तीसरी विशिष्ट शक्ति व्यंजना द्वारा होता है। शब्द साम्य और व्यापार-साम्य के आधार पर इस प्रकार स्फोट से प्रेरित होकर ध्वनिकार ने अपने ध्वनि सिद्धान्त की उद्भावना की। जैसे घण्टे पर चोट लगाने से पहले टंकार होती है और फिर उसमें से मीठी झंकार ध्वनि निकलती है उसी प्रकार *वाच्यार्थ को टंकार और व्यंग्यार्थ को* झंकार समझना चाहिए। ध्वनि के मुख्य दो भेद हैं—(१) अभिधा मूलक, (२) लक्षणा-मूलक। अभिधा मूलक ध्वनि को विवक्षित-अन्य-परवाच्य ध्वनि कहते हैं जिसके दो भेद हैं असंलक्ष्यक्रम और संलक्ष्य क्रम—रसादि असंलक्ष्य

क्रम के अन्तर्गत आते है। लक्षणा मूलक ध्वनि को अविवक्षित-वाच्य ध्वनि कहते है। उसके भी दो भेद हैं—(१) अर्थान्तर सक्रमित वाच्य, (२) अत्यन्त निरस्कृत-वाच्य। आगे इनके अनेक भेद प्रभेद हुए है।

व्यजना शक्ति

ध्वनि सिद्धान्त का सम्पूर्ण भवन व्यजना शक्ति के आधार पर खडा हुआ है, परन्तु पूछा जा सकता है कि इस नवीन उदभावित शक्ति का भी कोई आधार है या नही। और वास्तव म ध्वनि के विरोधियो ने—भट्टनायक और महिमभट्ट ने—पहला आक्रमण व्यजना पर ही किया भी। परन्तु व्यजना का आधार अत्यन्त सुदृढ था और वह इन सभी आघातो के उपरान्त भी अटल रहा। एक तो व्यजना की उदभावना और नामकरण चाहे ध्वनिकार ने ही किया हो, परन्तु उसका प्रयोग आरम्भ से ही हो रहा था। पर्यायोक्ति, अप्रस्तुत, प्रशसा, व्याजस्तुति-जैसे वक्रतामूलक अलकारो म अर्थबोध व्यजना के ही द्वारा सम्भव था। उदाहरण के लिए 'न स सकुचित पन्था येन बाली हतो गत' म अभिधा तो इतना ही कहकर मौन हो जाती है कि जिस पथ से बाली यमपुर गया है वह सकुचित नहीं हुआ, लक्षणा सकुचित का आशय अधिक से-अधिक स्पष्ट कर देगी परन्तु वास्तविक अर्थ की कि 'जिस प्रकार बाली मारा गया है उसी प्रकार तुम भी मारे जा सकते हो, प्रतीति कैसे होती है? इसके लिए व्यजना की सत्ता मानना अनिवार्य है क्योकि इसका ज्ञान शब्द के द्वारा ही होता है। यह तो रही अभावमूलक युक्ति। भावमूलक तर्कों द्वारा भी व्यजना की मान्यता स्थापित की जा सकती है शब्द शक्ति के इस प्रचलित उदाहरण को ही लीजिए गगाया घोष'। यहाँ अभिधा द्वारा वाच्यार्थ है 'गगा पर घर' परन्तु चूकि गगा प्रवाह पर घर की स्थिति अकल्पनीय है अत अभिधा का बोध होने पर लक्षणा की सहायता से सामीप्य के कारण इसका अर्थ हुआ गगा के किनारे। परन्तु वक्ता ने 'गगा के किनारे न कहकर 'गगा पर' कहा इसका क्या प्रयोजन है? इसका प्रयोजन यह है कि वह ऐसा कहकर उस घर के शैत्य, पवित्रता आदि गुणो का बोध कराना चाहता है। यदि ऐसा नहीं होता तो यह प्रयोग ही निष्प्रयोजन है और यदि ऐसा होता है तो उसका बोध कराने के लिए अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त तीसरी शब्द शक्ति व्यजना की भी सत्ता माननी पडेगी।

ध्वनिकार, अभिनवगुप्त और बाद म मम्मट आदि आचार्यों ने अनेक अकाट्य तर्कों द्वारा व्यजना का प्रतिपादन किया है जिसका साराश सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के शब्दो म यह है

१ जैसा कि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है लक्षणा में जो प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ होता है, जिसके लिए लक्षणा की जाती है, उसका बोध लक्षणा द्वारा न होकर केवल व्यंजना द्वारा ही हो सकता है।

२ असंलक्ष्य क्रम-व्यंग्य में रस भावादि व्यंग्य रहते है जो न तो अभिधा के वाच्यार्थ है न लक्षणा के लक्ष्यार्थ।

३ समान अर्थ के बोधक शब्दों का अभिधेयार्थ सर्वत्र एक ही होता है परन्तु व्यंग्यार्थ भिन्न हो सकते है।

४ प्रकरण, वक्ता, बोधक स्वरूप, काल, आश्रय, निमित्त कार्य, संख्या और विषय आदि के अनुसार व्यंग्यार्थ प्रायः वाच्यार्थ से भिन्न हो जाता है। उदाहरण के लिए, 'सूर्यास्त हो गया' इस वाक्य का वाच्यार्थ तो सभी के लिए एक ही होगा परन्तु व्यंग्यार्थ प्रकरण आदि के अनुसार भिन्न भिन्न रूप में प्रतीत होगा।

५ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में कालभेद सर्वत्र रहता है, अर्थात् वाच्यार्थ का बोध प्रथम और व्यंग्यार्थ का बाद में होता है।

६ वाच्यार्थ केवल शब्द में ही रहता है पर व्यंग्यार्थ शब्द के एक अंश, शब्द के अर्थ और वर्णों की स्थापना विशेष में भी रहता है।

७ वाच्यार्थ केवल व्याकरण आदि के ज्ञान मात्र से ही हो सकता है, परन्तु व्यंग्यार्थ केवल विशुद्ध प्रतिभा द्वारा काव्य मार्मिकों को ही भासित हो सकता है।

८ वाच्यार्थ से केवल वस्तु का ही ज्ञान होता है पर व्यंग्यार्थ से चमत्कार (आनन्द या आस्वादन) उत्पन्न होता है।

महिमभट्ट ने व्यंग्यार्थ को स्वतन्त्र न मानकर केवल अनुमेय ही माना है। वे कहते हैं कि जिस व्यंग्यार्थ की सिद्धि व्यंजना के द्वारा की जाती है वह वास्तव में अनुमान के द्वारा ही होती है अर्थात् वाच्यार्थ और तथाकथित व्यंग्यार्थ में लिंग लिंगी सम्बन्ध है। इसके उत्तर में मम्मट का कथन है कि सर्वत्र ऐसा नहीं होता, ऐसा भी प्रायः होता है कि यह वाच्यार्थ रूप लिंग (साधन हेतु) निश्चयात्मक न होकर अनैकान्तिक (व्यभिचारी) भी हो और उससे लिंगी (साध्य) की सिद्धि न हो। अतएव व्यंग्यार्थ को सर्वत्र अनुमेय कैसे मान सकते है?[1]

यह भी इसका स्पष्ट प्रतिवाद यही है कि अनुमान में साधन से साध्य की

---

१ [illegible]

सिद्धि तक के आधार पर होती है, पर ध्वनि मे वाच्यार्थ से व्यग्यार्थ की प्रतीति तक के सहारे नहीं होती। यह प्रत्यक्ष है इसमे प्रमाण की आवश्यकता नहीं।

ध्वनि और रस

भरत ने रस की परिभाषा की है विभाव, अनुभाव, सचारी आदि के सयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि काव्य म केवल विभाव, अनुभाव आदि का ही कथन होता है। उनके सयोग के परिपाक रूप रस का नहीं—अर्थात रस वाच्य नही होता। इतना ही नहीं रस का वाचक शब्दो द्वारा कथन एक रस-दोष भी माना जाता है, रस केवल प्रतीत होता है। दूसरे, जैसे कि अभी व्यजना के विषय मे कहा गया किसी उक्ति का वाच्यार्थ रस प्रतीति नही करता। केवल अर्थ-बोध कराता है। रस सहृदय की हृदय स्थित वासना की आनन्दमय परिणति है जो अर्थबोध से भिन्न है। अतएव उक्ति द्वारा रस का प्रत्यक्ष वाचन नही होता अप्रत्यक्ष प्रतीति होती है—पारिभाषिक शब्दो म 'व्यजना' या 'ध्वनन' होता है। इसी तर्क से ध्वनिकार ने उसे केवल रस न मानकर रस ध्वनि माना है। ध्वनि के अनुसार जो उत्तम, मध्यम और अधम काव्य माने गए ह उनम उत्तम काव्य के तीन भेद है—रस ध्वनि, वस्तु ध्वनि और अलकार ध्वनि। इनमे रस ध्वनि सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रकार रस ध्वनि इस सिद्धान्त के अनुसार काव्य का सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। शास्त्रीय दृष्टि से ध्वनि और रस का यही सम्बन्ध है।

अब मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखिए। मनोविज्ञान के अनुसार कविता वह साधन है जिसके द्वारा कवि अपनी रागात्मक अनुभूति को सहृदय के प्रति सवेद्य बनाता है। सवेद्य बनाने का अर्थ यह है कि कवि उसको इस प्रकार अभिव्यक्त करता है कि सहृदय को केवल उसका अर्थबोध ही नही होता, वरन उसके हृदय म समान रागात्मक अनुभूति का सचार भी हो जाता है। इस रीति से कवि सहृदय को अपने हृदय रस का बोध न कराकर सवेदन करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सहृदय की दृष्टि से रस सवेद्य है बोधगम्य अर्थात वाच्य नही। यह एक साध्य सिद्ध हो जाने के उपरान्त, अब प्रश्न उठता है कि कवि अपने हृदय रस को सहृदय के लिए सवेद्य किस प्रकार बनाता है? इसका उत्तर है भाषा के द्वारा, परन्तु उसे भाषा का साधारण प्रयोग न करके (क्योंकि हम देख चुके है कि साधारण प्रयोग तो केवल अर्थ-बोध ही कराता है) विशेष प्रयोग करना पडता है, अर्थात शब्दो को साधारण 'वाचक रूप' म प्रयुक्त न करके विशेष 'चित्र रूप' म प्रयुक्त करना पडता है।

चित्र-रूप से तात्पर्य यह है कि वे श्रोता के मन में भावना का जो चित्र जगाएँ वह क्षीण और धूमिल न होकर पुष्ट और भास्वर हो, और यह कार्य कवि की कल्पना शक्ति की अपेक्षा करता है, क्योंकि कवि कल्पना की सहायता के बिना सहृदय की कल्पना में यह चित्र साकार कैसे होगा ?

दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि यह 'विशेष प्रयोग' भाषा का कल्पनात्मक प्रयोग है। अपनी कल्पना शक्ति का नियोजन करके कवि भाषा—शब्दों—को एक ऐसी शक्ति प्रदान कर देता है कि उनको सुनकर सहृदय को केवल अर्थबोध ही नहीं होता वरन् उनके मन में एक अतिरिक्त कल्पना भी जग जाती है जो परिणति की अवस्था में पहुँचकर रूप-संवेदन में विशेष रूप से सहायक होती है। शब्द की इस अतिरिक्त कल्पना जगाने वाली शक्ति को ही ध्वनिकार ने 'व्यंजना' और रस के इस संवेद्य रूप को ही 'रस ध्वनि' कहा है। ध्वनि स्थापना के द्वारा वास्तव में ध्वनिकार ने काव्य में कल्पना तत्त्व के महत्त्व की ही प्रतिष्ठा की है।

ध्वनि में अन्य सिद्धान्तों का समाहार

जैसा कि आरम्भ में ही कहा जा चुका है ध्वनिकार जिन दो उद्देश्यों को लेकर चले थे, उनमें से एक अन्य सभी प्रचलित सिद्धान्तों का ध्वनि में समाहार करना भी था और वास्तव में बाद में ध्वनि सिद्धान्त की सर्वमान्यता का मुख्य कारण भी यही हुआ। ध्वनि को उन्होंने इतना व्यापक बना दिया कि उसमें न केवल उनके पूर्ववर्ती रस, गुण, रीति, अलंकार आदि का ही समाहार हो जाता था वरन् उनके परवर्ती वक्रोक्ति, औचित्य आदि भी उससे बाहर नहीं जा सकते थे। इसकी सिद्धि दो प्रकार से हुई—एक तो यह कि रस की भाँति रीति, अलंकार, वक्रता आदि भी व्यंग्य ही रहते हैं। वाचक शब्द द्वारा न तो माधुर्य आदि गुणों का कथन होता है, न वैदर्भी आदि रीतियों का, न उपमा आदि अलंकारों का और न वक्रता का ही। ये सब ध्वनि रूप में ही उपस्थित रहते हैं। दूसरे गुण, रीति, अलंकार आदि तत्त्व प्रत्यक्षतः अर्थात् सीधे वाच्यार्थ द्वारा मन का आह्लाद नहीं देते। अतएव ये सभी उसी के सम्बन्ध से उसी का उपकार करते हुए अपना अस्तित्व सार्थक करते हैं। इसके अतिरिक्त इन सबका महत्त्व भी अपने प्रत्यक्ष रूप के कारण नहीं है वरन् ध्वन्यार्थ के ही कारण है क्योंकि जहाँ ध्वन्यार्थ नहीं होगा वहाँ ये आत्मा विहीन पंच तत्त्वों अथवा आभूषण आदि के समान ही निरर्थक होंगे। इसलिए ध्वनिकार ने इन्हें ध्वन्यार्थ रूप अंगी के अंग माना है। इनमें गुणों का सम्बन्ध चित्त की द्रुति, दीप्ति आदि से है अतएव वे ध्वन्यार्थ के साथ (जो मुख्यतः रस ही होता है) अन्तरंग रूप

से सम्बद्ध है जैसे कि शौर्यादि आत्मा के साथ। रीति अर्थात् पद संघटना का सम्बन्ध शब्द-अर्थ से है, इसलिए [वह] काव्य के शरीर से सम्बद्ध है। परन्तु फिर भी जिस प्रकार कि सुंदर शरीर संस्थान मनुष्य के बाह्य व्यक्तित्व की शोभा बढाता हुआ वास्तव मे उसकी आत्मा का ही उपकार करता है इसी प्रकार रीति भी अंतत काव्य की आत्मा का ही उपकार करती है। अलकारो का सम्बन्ध भी शब्द अर्थ से ही है, परन्तु रीति का सम्बन्ध स्थिर है, अलकारो का अस्थिर, अर्थात् यह आवश्यक नही है कि प्रत्येक काव्य शब्द मे अनुप्रास या किसी अन्य शब्दालकार का और प्रत्येक प्रकार के वाक्य म उपमा या किसी अन्य अर्थालकार का चमत्कार नित्य रूप स वतमान ही हो। अलकारो की स्थिति आभूषणो की सी है जो अनित्य रूप म शरीर की शोभा बढाते हुए अंतत आत्मा के सौन्दय मे ही वृद्धि करते है क्योकि शरीर सौन्दय की स्थिति आत्मा के बिना सम्भव नही है। शव के लिए सभी आभूषण व्यथ होते है। (यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि ध्वनिकार ने अलकार को अत्यत सकुचित अथ मे ग्रहण किया है। अलकार का व्यापक रूप म ग्रहण करने पर अर्थात उसके अंतगत सभी प्रकार के उक्ति चमत्कार का ग्रहण करने पर चाहे उसका नामकरण हुआ हो या नही, चाहे वह लक्षणा का चमत्कार हो अथवा व्यजना का—जैसा कि कुन्तक ने वक्रोक्ति के विषय म किया है, उसका न तो शब्द अथ का अस्थिर धम सिद्ध करना ही सरल है, और न अलकार अलकाय म इतना स्पष्ट भेद ही किया जा सकता है।)

उपसहार

वास्तव म हमारे साहित्य शास्त्र मे सम्प्रदायो की जो यह प्रतिद्वंद्विता खडी हो गई, उसका मूल कारण यही था कि हमारे आचाय अलकाय-अलकार —आत्मा शरीर—म न केवल व्यवहार रूप से ही वरन् तत्त्व रूप से भी अत्यत स्पष्ट भेद मानकर चले है। रस, अलकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति ये पाँच पृथक सिद्धांत नही है वरन मूलत केवल दो ही सिद्धात है—रस और रीति अथवा रस और अलकार। एक केवल आत्मा को ही सम्पूर्ण महत्त्व दे देता है, दूसरा केवल शरीर को। रस और ध्वनि मूलत रस के ही अंतगत आ जाते है और ये आत्मवादी है, अलकार, रीति और वक्रोक्ति तत्त्वत रीति अथवा अलकार के अंतगत आते है (शुक्लजी ने 'रीति' नाम ही अधिक उपयुक्त माना है, जो वास्तव म अलकार की अपेक्षा अधिक सगत एव स्पष्ट है।) और ये शरीरवादी हैं। आत्मा और शरीर की सापेक्षित अनिवार्यता स्वत सिद्ध है यदि आत्मा के बिना शरीर निरथक है तो शरीर के बिना आत्मा का

भी कोई मूत्त अस्तित्व नहीं है । यही बात रस और रीति के सम्बन्ध मे घटती है । भाव का सौन्दर्य उक्ति के सौन्दर्य से निरपेक्ष कम हो सकता है इसी प्रकार उक्ति का सौन्दर्य भी भाव के सौन्दर्य से निरपेक्ष नहीं हो सकत उक्ति के सौन्दर्य म मैं केवल कौतूहल या तमाशा करने वाले चमत्कार को, जि वामन, कुन्तक आदि ने भी अत्यन्त हेय माना है, परिगणित नहीं करता, क्यों वह सभी दशाओ मे सहृदय का अनुरजन नहीं कर सकता । इसलिए तत्त्व र मे रस और रीति सम्प्रदाय एक दूसरे के विरोधी किसी प्रकार भी नहीं ह सकते । ये तो एक दूसरे के पूरक एव अन्योन्याश्रित है और इसलिए प्रतिवा करते हुए भी ये एक दूसरे के महत्त्व को किसी न किसी रूप मे स्वीकार क करते रहे हैं ।

नायिका भेद

पूव वृत्त

नायिका भेद को लेकर सस्कृत साहित्य शास्त्र म कोई नवीन वग नहीं उठ खडा हुआ । उसका कोई विशेष महत्त्व भी नहीं था । आरम्भ मे केवल नाट्य शास्त्रो मे ही नायक नायिका का वर्गीकरण एव उनके भेद प्रभेदो क वणन होता था, जिससे कि नाटककार अपने पात्रो के शील, मर्यादा का आदि से अन्त तक उचित रीति से निर्वाह कर सकें । परन्तु बाद म जब रस की प्रतिष्ठा हो गई और रसो मे भी शृगार को रस राजत्व प्राप्त हो गया तो शृगार के आलम्बन रूप नायक नायिका को भी विशेष महत्त्व दिया जाने लगा और उनका विस्तृत वणन होने लगा । नाट्य सम्बन्धी ग्रन्थ तो मुख्यत दो ही हैं—एक भरत का 'नाट्य शास्त्र' दूसरा धनजय का 'दश रूपक' । साहित्य शास्त्र के अन्य अगो की भाति नायिका भेद का भी प्रथम निरूपण भरत ने किया है । 'नाट्य शास्त्र' के बाइसवे अध्याय मे नायिका भेद की लगभग समस्त सामग्री किसी न किसी रूप मे मिल जाती है । उसमे मुख्य विषय के अतिरिक्त हाव, मान मोचन के उपाय दूती आदि अन्य सब प्रसगो का भी विस्तृत वणन है । भरत के अनुसार प्रकृति के विचार से स्त्रिया तीन प्रकार की होती ह— उत्तमा, मध्यमा और अधमा

> समासतस्तु प्रकृतिस्त्रिविधा परिकीर्तिता ।
> पुरुषाणामथ स्त्रीणामुत्तमाधममध्यमा ॥ ना० शा० ३४।१ २

फिर (उनको अवस्थानुसार) आठ भेदो मे विभक्त किया जा सकता है

> तत्र वासकसज्जा वा विरहोत्कण्ठितापि वा ।
> स्वाधीनपतिका वापि कलहान्तरितापि वा ॥

खण्डिता विप्रलब्धा वा तथा प्रोषितभर्तृका।
तथाभिसारिका चैव इत्यष्टौ नायिका स्मृता ॥
—नाट्यशास्त्र २२।२०३, २०४

इसके आगे भरत ने स्त्रियो के फिर तीन भेद किए है—वेश्या, कुलजा और प्रेष्या (जो वास्तव मे सामान्या, स्वकीया और परकीया के प्रकारान्तर ही है)। उधर नायक के धीर ललित आदि भेदो के समानान्तर भी उन्होने नायिकाओ के चार भेद माने है। अन्त मे, राजाओ के अन्तःपुर का वर्णन करते हुए महादेवी, देवी स्वामिनी से लेकर अनुचारिका, परिचारिका, आदि तक का विस्तृत उल्लेख है। परवर्ती आचार्यों ने प्रकृति भेद, अवस्था भेद, तथा कर्म भेद को तो ज्यो-का त्यो ग्रहण कर लिया है। हाँ, धीर ललित आदि भेदो को उन्होने नायको तक ही सीमित रखा है। अन्तःपुरवासिनी, महादेवी, देवी, आदि भी धीरे धीरे किसी-न किसी व्याज से नायिका-भेद मे अन्तभूत हो गई।

धनजय का विवेचन स्वभावत ही भरत की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित और पूर्ण है—वास्तव मे उनसे पूर्व रुद्रट और रुद्रभट्ट उसकी व्यवस्था और विधान दे चुके थे। धनजय ने भरत के प्रकृति कर्म और अवस्था भेदो के अतिरिक्त धीरादि भेद भी दिए है, और वय भेद का भी पूरा विस्तार किया है।

वय भेद—मुग्धा—१ वयोमुग्धा
२ काममुग्धा
३ रतिवामा
४ कोपमृदु
मध्या—१ यौवनवती
२ कामवती
प्रगल्भा—१ गाढ यौवना
२ भाव प्रगल्भा
३ रति प्रगल्भा[1]

इनके अतिरिक्त काव्य शास्त्र के अन्य आचार्यों ने भी रस प्रसग के अन्तगत नायिका भेद का उपयुक्त वर्णन किया है—इनमे क्षेमेन्द्र, केशव मिश्र और विशेष रूप से विश्वनाथ उल्लेखनीय हैं। विश्वनाथ का विवेचन धनजय की भी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और विस्तृत है। (शायद धनजय से ही सकेत

[1] देखिए दशरूपक

ग्रहण करके) उ हाने मुग्धा, मध्या और प्रौढा के और भी सूक्ष्म अवान्तर भेद किए है

मुग्धा—(१) प्रथमावतीर्णयौवना, (२) प्रथमावतीर्णमदनविकारा, (३) रतिवामा, (४) मानमृदु, (५) समधिकलज्जावती।

मध्या—(१) विचित्रसुरता, (२) प्ररूढस्मरा, (३) प्ररूढयौवना, (४) ईषत प्रगल्भवचना, (५) म यमव्रीडिता।

प्रगल्भा—(१) स्मरान्धा, (२) गाढतारुण्या, (३) समस्तरतकोविदा, (४) भावोन्नता, (५) दरव्रीडा, (६) आक्रान्तनायका।[1]

नायिका के अलकारो की सख्या विश्वनाथ ने दस स अठारह तक पहुँचा दी है।

परन्तु ये ग्रन्थ तो आधार मात्र रहे। नायिका भेद की जो परिपाटी चली, उसका आदिम ग्रन्थ रुद्रभट्ट का 'शृगार-तिलक' ही माना जा सकता है, क्योकि वहा काव्य शास्त्र का सबसे प्रथम ग्रन्थ है जिसमे शृगार को मुख्य रस मान कर उसके अग उपागा अर्थात सम्भोग विप्रलम्भ, नायक नायिका काम-दशा, मान माचन के उपाय आदि की स्वतन्त्र रूप स व्याख्या मिलती है। 'शृगार तिलक' के बाद इस प्रकार का दूसरा ग्रन्थ भोज का शृगार प्रकाश ह, जिसम शृगार ही एक रस माना गया है। भोज ने भी उपयुक्त सभी प्रसगा का अपनी विस्तार प्रिय शैली म 'अग्नि पुराण' के अनुसरण पर बीस परिच्छेदा म विस्तृत विवचन किया है। इसके बाद स इन शृगार परक ग्रन्था की झडी लग गई और न जान कितन छोटे माटे ग्रन्था का प्रणयन हुआ, जिनम शारदातनय का भाव प्रकाश, शिगभूपाल का 'रसार्णव' और भानुदत्त के दा ग्रन्थ 'रस तरगिणी' और रस मजरी, विशेष महत्त्वपूर्ण है। इनमे सबसे व्यवस्थित ग्रन्थ है रस मजरी जो हिन्दी नायिका भेद का मूलाधार है।

भानुदत्त न अपने पूववर्ती सभी ग्रन्था का उचित परीक्षण करन क उपरान्त नायिका भेद का सर्वागपूर्ण बना दिया ह। इसमे सन्देह नही कि उन्हान उसका अत्यधिक विस्तार किया है परन्तु साथ ही विश्वनाथ आदि क कतिपय अनावश्यक भेदो का यथास्थान काट-छाँट भी दिया है। भानुदत्त का काव्य शास्त्र के उन्नायक आचार्यों म ता कोइ स्थान नही है किन्तु उनकी दृष्टि अत्यन्त विषद और स्वच्छ थी। उनका रस और नायिका भेद का विवेचन अधिक मौलिक न हान हुए भी अत्यन्त स्पष्ट और सागोपाग है इसलिए ता उत्तरकालीन

[1] साहित्यदर्पण (३।९८, ९०)

कवि शिक्षा प्रणेताओ म वे मवस अधिक लोकप्रिय हो गए। हिन्दी म आरम्भ स ही उनका प्रत्यक्ष प्रभाव लक्षित होता है। कृपाराम की 'हिततरगिणी', नन्ददास की 'रसमजरी चिन्तामणि का कविकुलकल्पतरु' मतिराम का 'रस राज', दव का 'भाव विलास रसलीन का 'रसप्रबोध, वनीप्रवीन का 'नवरस-तरग', पद्माकर का 'जगद्विनोद आदि प्राय समस्त शुद्ध रसग्रन्थ 'रस-तरगिणी', और 'रसमजरी' स अत्यन्त स्पष्ट रूप म प्रभावित है। इनम स्थान-स्थान पर भानुदत्त का उल्लख और कही-कही सीधा अनुवाद मिलता है। एसा प्रतीत होता है कि मध्य युग मे भानुदत्त के उपयुक्त दोनो ग्रन्थ पाठ्य ग्रन्थ के रूप मे पढे जाते थ। 'रसमजरी म मुग्धा क केवल तीन भेद मान गए है

१ अकुरित यौवना (ज्ञात-यौवना और अज्ञात यौवना),

२ नवोढा, और

३ विश्रब्ध-नवोढा।

मध्या का कोई अवान्तर भेद स्वीकार नही किया गया और प्रगल्भा के केवल दो ही भेद ग्रहण किए गए है—(१) रतिप्रीता, (२) आनन्दात्म सम्मोहा।

विश्वनाथ न परकीया क केवल दो भेद मान है (१)परोढा, (२)कन्यका, परन्तु भानुदत्त न परोढा के प्रमुख ६ भेद और उनमे से कई भेदो के अवान्तर भेद कर दिए हैं

परोढा १ गुप्ता [(अ) भूत, (आ) भविष्यत, (इ) वतमान]

२ विदग्धा [(अ) वाग्विदग्धा (आ) क्रिया विदग्धा]

३ लक्षिता,

४ कुलटा,

५ अनुशयना —

(१ वतमान स्थान विघट्टना
२ भावी स्थान ,
३ सकेत-स्थाल-नष्टा)

६ मुदिता।

इसी प्रकार अवस्था भेदो म मुग्धा, मध्या प्रगल्भा, परकीया और सामान्या सभी का समाहार करते हुए—उनमे अभिसारिका के तीन अवान्तर भेद कर डाले हैं

अभिसारिका—(१ ज्योत्स्नाभिसारिका, २ दिवाभिसारिका,
३ तमोभिसारिका)

और प्रोषित-भतका के अन्तगत प्रोत्स्य भतका का भी उल्लेख किया है। उधर वगक्रम म भी विस्तार हुआ है। उदाहरण के लिए

दशानुसार—१ अन्य सभोग दु खिता, २ वक्रोक्ति गर्विता (प्रेम गर्विता),
३ मानवती। (सौन्दर्य-गर्विता)

पति प्रेमानुसार—१ ज्येष्ठा, २ कनिष्ठा।

अंशानुसार—१ दिव्य, २ अदिव्य, ३ दिव्यादिव्य।

आगे चलकर श्री रूप गोस्वामी ने शृगार रस में इन प्रसगो की भक्ति परक व्याख्या करते हुए उनका एक नया रूप ही दे डाला। उन्होने वैष्णव सिद्धान्त के अनुसार जीवन मे मुख्य रस माना उज्ज्वल या माधुर्य। भक्ति के पाँच भेद है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। इनमे माधुर्य सबसे प्रमुख है—इसी को उन्होने भरत के अनुसार उज्ज्वल रस कहा है जो वास्तव मे शृगार का ही धार्मिक रूप है। इसका स्थायी भाव है कृष्ण रति, और आस्वादयिता है भक्त। शृगार के भेद प्रभेदो और समस्त नायिका भेद को लेखक ने राधा कृष्ण की प्रणय लीला के अनुसार ही घटाया है। यह उज्ज्वल रस लौकिक अथवा ऐन्द्रिक अनुभूतियो से सम्बन्ध न रखकर आध्यात्मिक अनुभूतियो से सम्बन्ध रखता है।

इन लेखको ने रस शास्त्र के विवेचन मे किसी प्रकार की मौलिक उदभावनाएँ नही की। वास्तव मे इनका सम्बन्ध भी काव्य शास्त्र की अपेक्षा काम शास्त्र से ही अधिक था। फिर भी आलोचक चाहे ये अच्छे न रहे हो, परन्तु इनकी रसिकता मे सन्देह नही किया जा सकता। उन्होने वैसे भी आलोचना की अपेक्षा वर्गीकरण ही अधिक किया है। अपनी और लोक की रुचि के अनुसार इन्होने शृगार रस को ले लिया और उसी के विभिन्न अगो के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद और अवान्तर भेद करते रहे। इनका मूल उद्देश्य, जैसा कि रुद्रभट्ट ने स्वय कहा है, उदीयमान कवियो को शृगार के छन्द रचने की शिक्षा देना और उससे भी अधिक साधारण रसिको का मनोरजन एव ज्ञानवर्द्धन करते हुए गोष्ठी की शोभा बढाना था—'कि गोष्ठी मण्डन हृत शृगार तिलक विना"।

नायिका भेद का मनोवैज्ञानिक आधार

सबसे पूर्व नायिका के साधारण लक्षण को ही लीजिए—"नायक की ही भाँति त्याग, कृतित्व, कुलीनता, लक्ष्मी रूप, यौवन, चातुर्य, विदग्धता, तेज और उसके साथ ही शील आदि के गुण से युक्त, अनुराग की पात्र स्त्री काव्य की नायिका होती है।' नायिका को उपयुक्त गुणो से अलकृत मानने का मूल कारण हम रस के साधारणीकरण सिद्धान्त मे मिलेगा। साधारणीकरण मुख्यत आलम्बन का ही होता है। अतएव शृगार की आलम्बन नायिका का स्वरूप ऐसा होना चाहिए कि वह सभी के रति भाव की आलम्बन हो सके। इसी

दृष्टि से उसम उपयुक्त गुणा का अनिवाय मानकर उसके अन्तर्बाह्य को आकषक रूप दिया गया है। इस प्रकार काव्य मे स्थूलत किसी प्रकार वाणी अथवा कम द्वारा मर्यादा उल्लघन की आशका नही रहती।

जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, नायिका के इन भेद प्रभदा का आधार मनो वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक पुष्ट नही है, परतु उसे सवथा अनगल फिर भी नही कहा जा सकता। तात्पय यह है कि यह विभाजन नारी की आन्तरिक मनो वृत्तिया से सम्बद्ध किसी एक निश्चित एव सवव्याप्त आधार को लेकर नहा किया गया, परतु उसके पीछे कोइ आधार या सगति ही न हा यह बात भी नही है। वास्तव म, यहा हमे विभिन्न आधारा की ससृष्टि मिलती है, जो अधिकाश मे जीवन के बाह्य रूपो पर आश्रित है। प्राचीन आचार्यों न नायिका भेद के विभिन्न आधार मान है

१ जाति—पद्मिनी, शखिनी इत्यादि।

२ कम—स्वकीया, परकीया, सामान्या।

३ पति का प्रेम—ज्येष्ठा, कनिष्ठा।

४ वय—मुग्धा, मध्या, प्रौढा।

५ मान—धीरा, अधीरा, धीराधीरा।

६ दशा—अन्य सुरति दु खिता मानवती और गर्विता।

७ काल (अवस्था)—प्रोषित पतिका कलहान्तरिता, खण्डिता, अभि सारिका, आदि।

८ प्रकृति या गुण—उत्तमा, मध्यमा, अधमा।

आइए इनकी एक एक करके परीक्षा करे। पहल आधार को नाम दिया गया है जाति। वास्तव म नायिकाआ का यह वग और इसका यह नाम दाना ही 'काम शास्त्र' स लिए गए ह। काम शास्त्र' मे यह भेद स्त्री की काम-सम्बन्धी प्रतिक्रियाओ को लेकर, जो कि उसकी प्रकृति और शारीरिक स्थिति पर निभर रहती ह, किए गए है। साधारणत सस्कृत मे जाति एक अत्यन्त व्यापक शब्द है यहाँ उसका प्रयोग शास्त्र के पारिभाषिक रूप म किया गया है जिसम आपत्ति के लिए कोई स्थान नही है। वैसे यह जाति विभाजन बहुत-कुछ प्रकृति क ही आधार पर किया हुआ है। वग और जाति का अथ है यहाँ 'प्राकृतिक वग'। दूसर वग के लिए कम शब्द का प्रयोग है। यह शब्द वास्तव मे अध-व्यक्त है। कम स तात्पय शायद नारी धम की दृष्टि से अनुचित-उचित कम का ह। अपन पति म अनुरक्त होना नारी का धम है और यह उसके लिए उचित कम है, दूसर पति से प्रेम करना अनुचित कम है और धन

के लिए वार विलास करना नीच कम है। इस प्रकार अर्थ बैठ तो जाता है परन्तु शब्द में सम्यक् अर्थ ध्वनन की शक्ति नहीं है। कर्म शब्द से कुछ व्यवसाय-कर्म (Profession) की गन्ध आती है, जो कि सामान्या के लिए तो ठीक है परन्तु स्वकीया, परकीया के लिए उपयुक्त नहीं है। वस्तुत नायिका के ये तीन भेद नायक नायिका के सामाजिक सम्बन्ध को लेकर चले हैं। यदि यह सम्बन्ध वैध अर्थात् लोक-वेद सम्मत वैवाहिक सम्बन्ध है तो नायिका स्वकीया है, यदि अवैध अर्थात् लोक वेद विरुद्ध स्वतन्त्र प्रेम का सम्बन्ध है तो नायिका परकीया है, और यदि यह सम्बन्ध प्रेम का आदान प्रदान न होकर व्यावसायिक है तो वह सामान्या है। कर्म शब्द की इसी अव्याप्ति के कारण कृपाराम ने लोकरीति और दास ने 'धर्म' शब्द का प्रयोग किया है, जो निस्सन्देह ही अधिक सार्थक है। ज्येष्ठा कनिष्ठा का एकमात्र आधार नायिका के प्रति पति के प्रेम की न्यूनता-अधिकता ही है परन्तु यह वर्गीकरण अत्यन्त गौण है। चौथे वर्ग का आधार माना गया है वय भेद। यहां वय का आधार तो एक प्रकार से स्वत स्पष्ट ही है परन्तु वय के साथ साथ रति प्रसग के प्रति नायिका के दृष्टिकोण में जो परिवर्तन होता जाता है वास्तविक महत्त्व उसका है। फिर भी वय से अधिक उपयुक्त एक शब्द शायद और नहीं मिलेगा। आगे धीरादि भेद हैं जिनका आधार माना गया है नायिका का मान अथवा ईर्ष्या कोप, जिसका सम्बन्ध नायक के अपराध से है। यह विभाजन अधिक मूलगत न होकर बहुत कुछ सयोग और परिस्थिति पर आश्रित है और फिर यह खण्डिता आदि की सीमा में भी पहुँच जाता है। इससे भी अधिक शिथिल और अनावश्यक है दशानुसार विभाजन जिसके अन्तर्गत अन्य-सुरति दुःखिता, मानवती और गर्विता नायिकाओं को लिया गया है। इनमें से अन्य सुरति दुःखिता, और मानवती का तो खण्डिता तथा धीरादि में पूर्णत अन्तर्भाव हो जाता है, और गर्विता भी स्वाधीन पतिका में सरलता से अन्तर्भूत कर ली जा सकती है। अब दो वर्ग शेष रह जाते हैं जो सर्वथा मौलिक एव सर्वमान्य हैं—एक में अवस्था या काल के अनुसार स्वाधीनभर्तृका आदि अष्ट नायिकाओं का वर्णन आता है, दूसरे में प्रकृति या गुण के अनुसार उत्तमा, मध्यमा तथा अधमा का। ये दोनों वर्ग भरत के समय से ही चले आ रहे हैं और बाद के सभी आचार्यों ने ज्यों के-त्यों स्वीकृत कर लिए हैं। स्वाधीनभर्तृका आदि का आधार प्राय काल माना जाता है। भरत ने 'अवस्था' की ओर सकेत किया है और अवस्था शब्द अधिक उपयुक्त है भी। वास्तव में ये भेद नायक के दृष्टिकोण, व्यवहार अथवा स्थिति पर निर्भर नायिका की तत्कालीन मनोदशा

के आश्रित है। यदि नायक पूर्णत अपने अधीन है तो सर्वथा सुखी और सन्तुष्टमना नायिका 'स्वाधीनपतिका' कहाती है, अन्य स्त्री के ससर्ग चिह्न से युक्त नायक जिसके पास जाय वह ईर्ष्या से कलुषित चित्त वाली नायिका 'खण्डिता' कहाती है, जो नायक से मिलने के लिए सकेत स्थान पर जाय ऐसी कामातुरा नायिका को 'अभिसारिका' कहते है, जो क्रोध में मारे पहले तो प्रार्थना करते हुए नायक को निरस्त कर दे फिर पीछे से पछताय उसे 'कलहान्तरिता', और सकेत करके भी प्रिय जिसके पास न जाय उस नितान्त अपमानिता को 'विप्रलब्धा' कहते है। अनेक कार्यों में फँसकर जिसका पति परदेश चला गया है वह काम पीडिता नायिका 'प्रोषितपतिका' कहाती है, प्रियसमागम का निश्चय होने से जो वस्त्रालकारो से सुसज्जित हो रही हो, उसे वासकसज्जा और आने का निश्चय करके भी दैववश जिसका प्रिय न आ सके वह खिन्नमना नायिका विरहोत्कण्ठिता कहाती है। 'काल' शब्द से अभिप्राय समय—और स्पष्ट करके कहे तो, सामयिक स्थिति अर्थात नायिका की तत्कालीन मनोदशा—का है। थोडा वक्र करके कुछ लोगो ने इसके पूर्वापरक्रम का भी आशय निकालने का प्रयत्न किया है और हिन्दी के एक आधुनिक लेखक ने उपर्युक्त आठ भेदो मे क्रम बाँधने का प्रयत्न किया है। परन्तु यह न अभिप्रेत है और न सगत, क्योकि स्पष्टत ही ये अवस्थाएँ पूर्वापर नही है। यह भ्रान्ति वास्तव मे काल शब्द के प्रयोग से फैली है। अन्तिम आधार है गुण, जिसे भरत ने प्रकृति कहा है। यद्यपि इन दोनो मे गुण ही अधिक प्रचलित है परन्तु यदि आप परिभाषा का विश्लेषण करेंगे तो प्रकृति (स्वभाव) ही अधिक सगत बैठेगी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नायिका भेद का विशाल भवन जिस मूलाधार पर खडा हुआ है उसमे अनेक प्रकार के समान असमान अवान्तर आधारो की ससृष्टि है—जो कही सामाजिक सम्बन्ध, कही स्वभाव, कही मनोदशा, कही काम प्रवृत्ति, कही आभ्यन्तर और शारीरिक प्रकृति, कही केवल नायक के प्रेम की न्यूनता अधिकता पर ही आश्रित है। इनमे कुछ आधार मूलगत और कुछ नितान्त स्थूल है। इतना अवश्य है कि इन सभी मे नायक-नायिका की पारस्परिक रति भावना मूल सूत्र के रूप मे अनिवार्यत अनुस्यूत है और यही नायिका भेद का मूलाधार है। इस वर्गीकरण मे चरित्र चित्रण एव शील निरूपण' का अत्यन्त स्थूल प्रयत्न मिलता है। स्थूल इसलिए कि यह सर्वथा वर्गगत ही है व्यक्तिगत नही। यह वर्गीकरण इस सिद्धान्त को लेकर चला है कि मानव प्रकृति मूलत एक है एक विशेष परिस्थिति मे वह एक

३ | रीति-काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ

रीति शब्द का अर्थ और इतिहास

हिंदी में रीति का प्रयोग साधारणत लक्षण-ग्रन्थों के लिए होता है जिन ग्रन्थों में काव्य के विभिन्न अंगों का लक्षण उदाहरण सहित विवेचन होता है उन्हें रीति ग्रन्थ कहते हैं, और जिस वैज्ञानिक पद्धति पर, जिस विधान के अनुसार यह विवेचन होता है उसे रीति शास्त्र कहते हैं। संस्कृत में इसे अलंकार शास्त्र अथवा काव्य शास्त्र ही प्राय कहा गया है। रीति का वहाँ एक विशेष अर्थ है और उसे एक विशेष सम्प्रदाय के लिए ही प्रयुक्त किया गया है। रीति का अर्थ वहाँ है विशिष्ट पद-रचना। जैसा कि शास्त्रीय पृष्ठ-भूमि से स्पष्ट है, रीति सम्प्रदाय रचना अथवा बाह्याकार को ही काव्य का सर्वस्व मानकर चला है। सम्भव है आरम्भ में हिंदी में रीति शब्द का मूल संकेत रीति सम्प्रदाय में ही लिया गया हो, परन्तु वास्तव में यहाँ इसका प्रयोग सर्वथा सामान्य एवं व्यापक अर्थ में ही हुआ है। यहाँ काव्य रचना-सम्बन्धी नियमों के विधान को ही समग्रत रीति नाम दे दिया गया है। जिस ग्रन्थ में रचना सम्बन्धी नियमों का विवेचन हो वह रीति ग्रन्थ, और जिस काव्य की रचना इन नियमों से आबद्ध हो, वह रीति-काव्य है। स्वभावत इस काव्य में वस्तु की अपेक्षा रीति अथवा आकार की आत्मा के उत्कर्ष की अपेक्षा शरीर के अलंकरण की प्रधानता मिलती है।

इस प्रकार रीति शब्द का यह विशिष्ट प्रयोग हिंदी का अपना प्रयोग है और यह नया नहीं है। रीति काल के अनेक कवियों ने प्राय आरम्भ से ही काव्य की रीति, अलंकार रीति, कविता रीति आदि का प्रयोग स्पष्ट रूप से इसी अर्थ में किया है

१ अपनी-अपनी रीति के काव्य और कवि रीति।[1]

२ काव्य की रीति सिखी सुकबीन सो, देखी सुनी बहु लोक की बातें।[2]

३ कवित रीति कछु कहत हौं व्यंग्य अर्थ चित लाय।[3]

---

[1] देव—'शब्द रसायन'

[2] दास—'काव्यनिर्णय'

[3] प्रतापसाहि—'व्यंग्यार्थ कौमुदी'

विशेष रूप मे ही प्रतिक्रिया करगी। वास्तव म यह सिद्धात आत्यतिक रूप म चाह ठीक भी हा, परन्तु सामा यत अधिक व्यवहाय नही है, क्योकि प्रकृति की एकता प्राय दुलभ है। ऊपर स एक दिखने वाली परिस्थितिया म कितनी आन्तरिक गुत्थिया ह, यह हम साधारणत नही जान पाते। इसकी तह म जनन विज्ञान, समाज विज्ञान और इसके परिणामस्वरूप मनाविज्ञान के जाल उलझे हुए ह। इसीलिए मानव मन का वगगत विश्लेषण साधारणत सफल नही होना, व्यक्तिगत विश्लेषण ही व्यवहाय होता है। इसके अतिरिक्त इस विभाजन मे एक और स्पष्ट दाप यह है कि एक तो यह प्रेम अथवा काम वत्ति के बाह्य रूप को ही लेकर, दूसरे उसको स्वत परिमित भी मानकर चला है। काम वत्ति अपन रूप मे स्वतन्त्र वृत्ति अवश्य है, पर जीवन के व्यवहार तल पर उस पर अन्य प्रवृत्तिया की भी क्रिया-प्रतिक्रिया होती है—यह असदिग्ध है। हमारे नायिका भेद मे इसका ध्यान नही रखा गया। उसका तो मुख वाक्य यही है कि सब कुछ हान हुए भी स्त्री केवल स्त्री ही है—'A woman is a woman for all that इसीलिए वह शास्त्रीय विवेचन मे इतना योग नही दे सका, जितना काव्य सृष्टि मे। नायिका भेद सिद्धान्त शास्त्र न बनकर चित्र सग्रह ही बन गया।

३ रीति-काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ

रीति शब्द का अर्थ और इतिहास

हिन्दी मे रीति का प्रयोग साधारणत लक्षण ग्रन्थो के लिए होता है जिन ग्रन्थो मे काव्य के विभिन्न अगो का लक्षण उदाहरण सहित विवेचन होता है उन्ह रीति ग्रन्थ कहते है, और जिस वैज्ञानिक पद्धति पर, जिस विधान के अनुसार यह विवेचन होता है उसे रीति शास्त्र कहते हैं। सस्कृत मे इसे अलकार शास्त्र अथवा काव्य शास्त्र ही प्राय कहा गया है। रीति का वहा एक विशेष अर्थ है और उसे एक विशेष सम्प्रदाय के लिए ही प्रयुक्त किया गया है। रीति का अर्थ वहा है विशिष्ट पद रचना। जैसा कि शास्त्रीय पृष्ठ-भूमि से स्पष्ट है, रीति सम्प्रदाय रचना अथवा बाह्याकार को ही काव्य का सर्वस्व मानकर चला है। सम्भव है आरम्भ मे हिन्दी मे रीति शब्द का मूल सकेत रीति सम्प्रदाय से ही लिया गया हो, परन्तु वास्तव म यहाँ इसका प्रयोग सर्वथा सामान्य एव व्यापक अर्थ मे ही हुआ है। यहाँ काव्य रचना सम्बन्धी नियमो के विधान को ही समग्रत रीति नाम दे दिया गया है। जिस ग्रन्थ मे रचना सम्बन्धी नियमो का विवेचन हो वह रीति ग्रन्थ, और जिस काव्य की रचना इन नियमो से आबद्ध हो, वह रीति-काव्य है। स्वभावत इस काव्य मे वस्तु की अपेक्षा रीति अथवा आकार की, आत्मा के उत्कर्ष की अपेक्षा शरीर के अलकरण की प्रधानता मिलती है।

इस प्रकार रीति शब्द का यह विशिष्ट प्रयोग हिन्दी का अपना प्रयोग है और यह नया नही है। रीति काल के अनेक कवियो ने प्राय आरम्भ से ही काव्य की रीति, अलकार रीति, कविता रीति आदि का प्रयोग स्पष्ट रूप से इसी अर्थ मे किया है

१ अपनी-अपनी रीति के काव्य और कवि रीति।[1]

२ काव्य की रीति सिखी सुकवीन सो, देखी सुनी बहु लोक की बातें।[2]

३ कवित रीति कछु कहत हो व्यग्य अर्थ चित लाय।[3]

---

[1] देव—'शब्द-रसायन'

[2] दास—'काव्यनिर्णय'

[3] प्रतापसाहि—'व्यग्यार्थ कौमुदी'

इसी प्रकार पद्माकर ने अपने 'पद्माभरण' मे अलकार विवेचन को अलकार-रीति कहा है। रीति से इनका तात्पर्य स्पष्टत है प्रकार प्रणाली का। रीति काल के उत्तरार्ध म यह शब्द काफी प्रचलित हो गया था, और उसकी समाप्ति तक तो इसका मुक्त प्रयोग हो चला था। सरदार आदि कवियो के समय मे यह शब्द इस रूप मे सवसाधारण मे स्वीकृत था। इसी के अनुसार तो मिश्रबन्धुओ ने इस युग का नाम 'अलकृत काल' रखते हुए भी इन कवियो के ग्रथो को रीति ग्रन्थ और उनके विवेचन को रीति कथन ही कहा है। 'मिश्रबन्धु विनोद' म एक स्थान पर रीति के तत्कालीन प्रयोग की बडी स्वच्छ व्याख्या की गई है "इस प्रणाली के साथ रीति ग्रन्थो का भी प्रचार बढा और आचार्यता की वृद्धि हुई। आचार्य लोग तो कविता करने की रीति सिखलाते हैं, मानो वह ससार स यह कहते है कि अमुकामुक विषयो के वर्णनो मे अमुक प्रकार के कथन उपयोगी है और अमुक प्रकार के अनुपयोगी। ऐसे ग्रथो मे प्रत्यक्ष प्रकट है कि वह विविध वर्णनो वाले ग्रथो के सहायक मात्र है न कि उनके स्थानापन्न।" कहने का तात्पर्य यह है कि 'रीति' शब्द, जैसा कि कुछ लोगो का विचार है, शुक्लजी का आविष्कार नही है। वह बहुत पहले से हिन्दी मे प्रयुक्त हो रहा था, इसीलिए तो शुक्लजी ने कही भी उसकी व्याख्या करने की चेष्टा नही की। शब्द स्वय इतना सब परिचित था कि व्याख्या की आवश्यकता ही नही हुई। फिर भी शुक्लजी की शास्त्रनिष्ठ प्रतिभा ने ही उसे शास्त्रीय व्याख्या एव वैज्ञानिक विधान दिया, इसमे सन्देह नही किया जा सकता। उनसे पूर्व रीति शब्द का स्वरूप निश्चित और व्यवस्थित नही था। ऐसे लक्षण ग्रन्थो के लिए भी जिनमे रीति कथन तो नही है, परन्तु रीति बन्धन निश्चित रूप से है 'रीति' सज्ञा शुक्लजी से पहले अकल्पनीय थी। शुक्लजी ने कुछ अशो मे वामन के रीति शब्द का अर्थ सकेत भी ग्रहण करते हुए रीति को केवल एक प्रकार न मानकर एक दृष्टिकोण माना। यह उनकी विशेषता थी। उनके विधान म जिसने रीति ग्रन्थ रचा हो, केवल वही रीति कवि नही है वरन जिसका काव्य के प्रति दृष्टिकोण रीति बद्ध हो वह भी रीति कवि है। शुक्लजी के उपरात कुछ आलोचको ने इस काल को रीति-काल की अपेक्षा अलकार काल या शृगार-काल कहना अधिक उपयुक्त माना परन्तु हिन्दी म उनका अनुसरण नही हुआ। फलत आज हिन्दी के लगभग सभी विद्वान आलोचक एव इतिहासकार केशव बिहारी, देव, पद्माकर आदि के काव्य विशेष को, जिसमे रचना सम्बन्धी नियमो का विवेचन अथवा उन नियमो का बन्धन है रीति काव्य के ही नाम से पुकारते है।

संस्कृत अलकार शास्त्र के विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृत मे रीति ग्रन्थो के प्रणेता प्राय कवि नही थे—आचार्य ही थे, जो कविता न करके सिद्धान्तो का खण्डन मण्डन और प्रतिपादन करते थे। भरत, वामन, रुद्रट, ध्वनिकार, अभिनव, कुन्तक, मम्मट आदि ने तो काव्य-रचना ही नही की—सूत्र, कारिका, वृत्ति आदि के द्वारा सद्धान्तिक विवेचन मात्र किया है। दण्डी, राजशेखर आदि, जो कवि भी थे—उन्होने भी अपने दोनो रूपो को पृथक ही रखा है। परन्तु फिर भी संस्कृत म एक परम्परा मिलती अवश्य है जिसम कविता और आचार्यत्व दोनो रूपो का विभिन्न अनुपातो से सम्मिश्रण हुआ है—उदाहरण के लिए दण्डी, भानुदत्त तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने गद्य म विवेचन अवश्य किया है परन्तु उदाहरण सभी अपने दिए हैं, इसके अतिरिक्त 'कुवलयानन्द', 'एकावली', 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' आदि के रचयिताओ ने तो लक्षण निरूपण के समान ही उदाहरणो का भी गौरव दिया है, क्योकि ये उदाहरण उनके आश्रयदाताओ की प्रशस्ति म लिखे होने के कारण स्वतन्त्र महत्त्व रखते हैं। उधर 'चन्द्रालोक' मे जयदेव ने लक्षण और उदाहरण एक ही छन्द म देकर गद्य का बहिष्कार कर दिया है। इस प्रकार शताब्दियो तक प्रौढ खण्डन मण्डन और व्यापक विवेचन हो चुकने के पश्चात संस्कृत साहित्य शास्त्र के उत्तरार्द्ध मे अपने अपने आश्रयदाताओ अथवा तत्कालीन रसिक नागरिको को साधारण काव्य शिक्षा देने के निमित्त लघुतर प्रतिभा के कवि और रसज्ञ पण्डितो मे रीति ग्रन्थ रचने की परिपाटी चल पडी थी। इनम विवेचन और खण्डन मण्डन का विशेष महत्त्व नही दिया जाता था—संक्षिप्त लक्षण भर दे दिए जाते थे। परन्तु उदाहरण, जो कही उद्धृत और कही कही स्वरचित भी होते थे, अत्यन्त सरल और मधुर रखे जाते थे। इन दिनो शृगार रस तो अत्यधिक लोकप्रिय हो ही गया था, अत नायिका भेद का भी समावेश प्राय सभी म किया जाने लगा था। कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृत साहित्य शास्त्र के पूर्वार्द्ध का प्रौढ सद्धान्तिक विवेचन, जिसकी कि बार बार शुक्लजी ने दुहाई दी है, इस समय तक प्राय समाप्त हो चुका था। पण्डितराज जगन्नाथ जसे आचार्य वास्तव मे अपवाद थे। प्राकृत और अपभ्रंश का जो साहित्य आज प्राप्य है उससे स्पष्ट पता चलता है कि उसम भी यही पिछली परिपाटी चली, जो आलोचना की अपेक्षा काव्य को अधिक महत्त्व देती थी—हिन्दी का रीति-काव्य इसी का सीधा विकास है। इसी कारण उसमे आचार्यत्व और कविता का सम्मिलन है।

रीति-काव्य की अन्त प्रेरणा और स्वरूप

रीति कविता राजाओ और रईसो के आश्रय म पली है—यह एक स्वत

प्रमाणित सत्य है—अतएव उसकी अन्त प्रेरणा और स्वरूप को कविया और उनके आश्रयदाता दानो के सम्बन्ध से ही समझा जा सकता है।

इस युग के इतिहास मे स्पष्ट है कि रीति-काल के आरम्भ मे ही दिल्ली दरबार का आकर्षण कम होने लग गया था—औरगजेब के समय म कलाकारो के लिए दिल्ली म कोई आकर्षण नही रह गया था। औरगजेब की मृत्यु के उपरान्त साम्राज्य की शक्ति का और उसके साथ राज दरबार का विकेन्द्रीकरण बडे वेग से आरम्भ हो गया था और कवि, चित्रकार, गायक और शिल्पी सभी राजाआ और रईसा के यहाँ आश्रय की खोज म भटकने लग गए थे। ये राजा और रईस अधिकाशत हिन्दू या हिन्दू रीति रिवाजा से घुले मिले हिन्दी रसिक मुसलमान थे। कुछ स्वनामधन्य महाराजाओ को छोडकर शेष सभी का जीवन सामयिक राजनीति से पृथक अवकाश और विलास का जीवन था। दिल्ली का राज-वश भी जब इस समय इतने कोलाहल के बीच ऐश-आराम मे मस्त था तो इन राजा और रईसा को तो चिन्ता तथा सघर्ष कम और अवकाश एव विलास का अवसर कही अधिक था। अतएव ये लोग, चाहे छोटे पैमाने पर ही सही, राज दरबार की प्रतिच्छाया थे। शताब्दियो के दासत्व और उत्पीडन के उपरान्त अब वह समय आ गया था जब इनमे आत्म गौरव की चेतना नि शेष हो चुकी थी—इसीलिए तो अव्यवस्था और उत्क्रान्ति के युग मे भी ये लोग चैन की वशी बजा सकते थे। जीवन के प्रति इनका दृष्टिकोण सर्वथा ऐहिक और सामन्तीय रह गया था। परन्तु ऐहिकता और सामन्तवाद की शक्ति भी अब उसमे नही थी, केवल भोगवाद ही शेष था।

अतएव ये लोग भोग के सभी उपकरणो को—विनोद के सभी 'रसालाओ' को एकत्र करने म प्रयत्नशील रहते थे जिनमे सुबाला, सुराही और प्याला के साथ साथ तानतुक ताला' और गुणी जनो का सरस काव्य भी सम्मिलित था। कहने की आवश्यकता नही कि इन सभी म कविता सबसे अधिक परिष्कृत उपकरण थी—वह केवल विनोद का रसाला ही नही थी, एक परिष्कृत बौद्धिक आनन्द का साधन तथा व्यक्तित्व का शृगार भी थी। ये राजा और रईस अपनी सस्कृति और अभिरुचि का समृद्ध करने के लिए रससिद्ध व्युत्पन्न कविया का सत्सग और काव्य का आस्वादन अनिवार्य समझते थे—उसमे उनका व्यक्तित्व कलात्मक एव सस्कृत बनता था।

रीति काल के कवि वे व्यक्ति थे जिनको प्राय साहित्यिक अभिरुचि पैतृक परम्परा के रूप म प्राप्त थी—काव्य का परिशीलन और सृजन इनका शगल नही था स्थायी कर्तव्य-कर्म था। ये लोग यद्यपि निम्न वर्ग के ही सामाजिक

होते थे, परन्तु अपनी काव्य-कला के द्वारा ऐसे राजाओ अथवा रईसो का आश्रय खोज लेते थे जिनकी सहायता मे इनकी काव्य-साधना निर्विघ्न चलती रहे। अतएव इनका सम्पूर्ण गौरव इनकी काव्य-कला पर ही निर्भर रहता था—इसी कारण कविता इनके लिए मूलत एक ललित कला थी जिसके बल पर ये अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करते हुए गोष्ठी के शृगार बन जाते थे। अपनी प्रतिभा और कला के प्रदर्शन के प्रति ये जागरूक थे इसका तो निषेध नही किया जा सकता—परन्तु इसके आगे बढकर इनको काव्य-व्यवसायी या कर्मयशी कवि कहना अन्याय होगा। साराश यह है कि रीति-काव्य म आत्मा की कॉपती हुई आवाज आपको नही मिलेगी। वह अपने प्रतिनिधि रूप म वैयक्तिक गीत-कविता नही है। वह कलात्मक कविता है—स्वभावत उसम वस्तु-तत्त्व[1] असदिग्ध है। इसलिए उसकी मूल प्रेरणा सीधी आत्माभिव्यजना की प्रवृत्ति म न खोजकर आत्म प्रदर्शन की प्रवृत्ति म खोजनी चाहिए। हिन्दी-साहित्य के प्राचीन इतिहास मे यही युग ऐसा था जब कला को शुद्ध कला के रूप म ग्रहण किया गया था। अपने शुद्ध रूप म रीति-कविता न तो राजाओ और सैनिको को उत्साहित करने का साधन थी न धार्मिक प्रचार अथवा भक्ति का माध्यम थी, न सामाजिक अथवा राजनीतिक सुधार की परिचारिका ही। काव्य-कला का अपना स्वतन्त्र महत्त्व था—उसकी साधना उसी के अपने निमित्त की जाती थी, वह अपना साध्य आप थी।

निदान रीति-काव्य मे दो प्रवृत्तियाँ अभिन्न रूप से गुथी हुई मिलती है—(१) रीति निरूपण अथवा आचार्यत्व और (२) शृगारिकता।

रीति निरूपण (आचार्यत्व)

रीति निरूपण की दृष्टि से विचार करने पर इन कवियो म कतिपय स्वतन्त्र अन्त प्रवृत्तियाँ सहज ही लक्षित हो जाती है। एक वर्ग तो ऐसे कवियो का है जिन्होने लक्षण ग्रथो का निर्माण किया है और दूसरा उन कवियो का है जिन्होने रीति शास्त्र के पण्डित होने पर भी लक्षण उदाहरण के फेर मे न पडकर केवल लक्ष्य ग्रथो की रचना की है। हम देख चुके हैं कि हिन्दी रीति-काव्य के पीछे एक विशाल शास्त्रीय आधार था, जिसके अन्तर्गत विभिन्न सम्प्रदायो की प्रतिष्ठा और काव्य के सभी अगो का सूक्ष्म विवेचन होने के उपरान्त स्थिर सिद्धान्तो की स्थापना हो चुकी थी। मम्मट के समन्वयकारी निरूपण के बाद मूल सिद्धान्त विषयक उद्भावनाएँ प्राय नि शेष हो गई थी।

---

[1] Objectivity

अलकार भेद आदि अपेक्षाकृत गौण सिद्धान्तो का भी निरूपण अत्यत विरल और अस्पष्ट है। नवीन वाद प्रतिष्ठा का तो प्रश्न ही नही उठता।

निरूपण शली

हिन्दी के रीति ग्रन्थो मे प्राय तीन प्रकार की निरूपण शैली काम म लाई गई है—१ 'काव्य प्रकाश' की निरूपण शली, जिसमे काव्य के सभी अगो पर थोडा बहुत प्रकाश डाला गया है, २ 'शृगार तिलक' 'रस मजरी आदि शृगार रसमयी नायिका भेद वाली शली, जिसम कवल शृगार के विभिन्न अगो, विशेषकर नायिका के भेद का ही निरूपण किया गया है, ३ चन्द्रालोक की सक्षिप्त अलकार निरूपण शली जिसम अलकारो के ही सक्षिप्त लक्षण और उदाहरण दिए गए है।

पहली श्रेणी म सेनापति का 'काव्य कल्पद्रुम चिन्तामणि के दो ग्रन्थ 'कवि-कुल कल्पतरु' और 'काव्य विवेक', कुलपति मिश्र का रस रहस्य', देव का 'काव्य रसायन' सूरति मिश्र का 'काव्य सिद्धान्त, श्रीपति का काव्य सरोज', दास का 'काव्य निणय सोमनाथ का रस पीयूष निधि, कुमारमणि भट्ट का 'रसिक विलास', रतन कवि का फतेह-भूषण', करन कवि का 'साहित्यरस', प्रतापसाहि का 'काव्य विलास' और रसिक गोविन्द का 'रसिक गोविन्दानन्दघन' सदृश सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ आते है। इनके अतिरिक्त 'काव्य प्रकाश के कुछ अनुवाद भी हुए। उन्नीसवी शताब्दी म धनीराम ने जो अनुवाद करना आरम्भ किया था वह तो अधूरा ही रह गया परन्तु बीसवी शताब्दी म सेवक कवि ने स्वतन्त्र रूप से यह काय समाप्त कर लिया। साहित्य दपण' का भी एक-आध अनुवाद हुआ। शताब्दियो तक विस्तृत रीति-काल म यदि वास्तव मे आचायत्व के अधिकारी कुछ कवि हुए तो वे उपयुक्त छह सात कवि ही थे। इन्हान रीति निरूपण को गम्भीरतापूवक ग्रहण किया है। इनके ग्रन्थो म काव्य लक्षण, काव्य प्रयोजन रस भाव, ध्वनि, नायक, अलकार पदाथ निणय (शब्द शक्ति) रीति, गुण-दोष, पिंगल आदि सभी का यत्किंचित् व्यवस्था के साथ निरूपण किया गया है। पदाथ निणय, गुण-दोष आदि उपेक्षित प्रसगो का भी, जिनका निरूपण करन का अन्य कवियो म न धैय था न क्षमता, इन लोगो ने यथोचित समावेश किया है। इनके विवेचन से स्पष्ट है कि इनका ध्यान लक्ष्य की अपक्षा लक्षण पर अधिक रहा है। इसम सन्देह नही कि इनके लक्षण कही-कही अस्पष्ट और भ्रामक हैं, और यह भी ठीक है कि केवल इन पर निभर रहन वाल जिज्ञासु का रीति ज्ञान अधूरा और कच्चा ही रहगा परन्तु इनका अपना शास्त्र ज्ञान भी बिलकुल कच्चा या अधूरा था, यह कहना इन ममज्ञो के प्रति

अन्याय होगा। ये प्राय सभी कवि रीति शास्त्र के गम्भीर पण्डित थे, उन अध्ययन व्यापक था। दुर्भाग्यवश इनको तर्कोपयोगी गद्य का माध्यम उपल नहीं था, इसीलिए ये जटिलताओं को स्पष्ट नहीं कर पाए। अधिकतर लोग शब्द शक्तियों के विवेचन में अथवा अलकारों के पार्थक्य प्रदर्शन में उलझे हैं परन्तु ये विषय तो हैं ही इतने गम्भीर और सूक्ष्म कि सस्कृत के अनेक आचार्य इनमें साफ नहीं उतर पाए। सस्कृत के प्राचीन आचार्यों विवेचन तो प्राय अवज्ञानिक है। उनकी विफलताओं को देखना हो तो गु और रीतियों के विवेचन को देखिए—उनमें से अनेक उद्भट विद्वान गु और अलकारों में अन्तर नहीं कर पाए गुणों का पारस्परिक सम्बन्ध अ भेद निरूपण, तथा अलकारों के भेद प्रभेदों में सूक्ष्मताएँ तो अन्त तक आचा को उलझाती रही। रस निष्पत्ति के विषय में लोल्लट, शकुक और भट्टनाय के वास्तविक मत क्या थे, इसका स्पष्टीकरण विभिन्न आचार्यों ने इतने विभि रूपों में किया है कि आज गद्य की प्रौढ विवेचन शक्ति का पूर्ण विकास हो पर भी पण्डितों में ऐकमत्य स्थापित नहीं हो सका है। अलकारों का गोरख धधा भी इतना विचित्र है कि वे प्राय एक दूसरे की सीमा में प्रवेश कर जा है। इसका कारण स्पष्ट है कि भारतीय रीति शास्त्र की प्रवृत्ति आरम्भ से ही भेद प्रभेदों की सूक्ष्म जटिलताओं से क्रीडा करने की रही है। बात को इतन दूर तक घसीटा गया है कि सीमा-व्यतिरेक सर्वथा अनिवार्य हो गया है। ऐसी दशा में यदि हिन्दी के ये आचार्य, जिनको सब कुछ पद्य में कहना था उलझ मे पड गए है तो आश्चर्य ही क्या? इनका एक दोष स्पष्ट रहा है—वह य कि ये लोग सर्वथा सस्कृत रीति ग्रन्थों के उपजीवी रहे हैं—सस्कृत का उन दिनों कुछ ऐसा रौब गालिब था कि हिन्दी का कवि बेचारा उसके ग्रन्थों को आप ग्रन्थ मानता हुआ उनसे स्वतन्त्र होने की हिम्मत ही नहीं कर पाता था यह बात आज भी बहुत कुछ वैसे ही रूप में विद्यमान है। आज भी सेठ कन्हैयालाल पोद्दार और श्री केडिया जैसे पण्डित सस्कृत उदाहरणों के अनुवाद ही दे रहे हैं। हिन्दी का व्यापक काव्य साहित्य, उसकी विकासशील अभिव्यजना शक्ति उनके लिए आज भी जैसे निरर्थक ही है। मुख्यतया इसी त्रुटि के कारण इन कवियों के विवेचना में अस्पष्टता और दुरूहता आदि दोष, जो अनुवाद के अनिवार्य अग हैं, आ गए हैं। इनके अतिरिक्त इनके ग्रन्थों को पढते समय गद्य वार्तिक की आवश्यकता का अनुभव और भी अधिक क्यों होता है इसका एक अन्य कारण है—वह यह कि उदाहरण प्राय सर्व-परिचित

अपने रचे हुए नवीन छन्दों का ही दिया है। संस्कृत के मान्य आचार्यों ने अपने परवर्ती और समकालीन साहित्य का विधिवत् पर्यालोचन करने के उपरान्त साहित्य की परिवर्तनशील प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर रीति-निरूपण किया है। उनके उदाहरण प्राय परिचित हैं, जिनका ग्रहण करने के लिए पाठक की बुद्धि पहले से ही प्रस्तुत रहती है। इसके साथ ही वे कारिका और वृत्ति के सहारे उद्दिष्ट वस्तु का स्पष्टीकरण भी कर देते हैं जिससे किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। एक आध को छोड़कर ये रीतिकालीन आचार्य न तो प्राय हिन्दी के परिचित उदाहरण ही देते थे और न गद्य वार्तिका द्वारा मूल वस्तु का स्पष्टीकरण ही कर पाते थे। परिणामस्वरूप उन पर निर्भर पाठक का ज्ञान निर्भ्रान्ति नहीं हो सकता। फिर भी, इस युग के किसी कवि ने ऐसा करने की चेष्टा नहीं की—एक साथ यह कह देना भी अन्याय होगा। कम-से-कम इस श्रेणी के कवियों में से अधिकांश ने बड़ी ईमानदारी और मनोयोग के साथ अपना कर्तव्य पूरा करने का प्रयत्न किया है। कुलपति, दास और विशेष रूप से रसिकगोविन्द ने पद्य को अपर्याप्त पाकर गद्य का भी जैसा-तैसा प्रयोग करते हुए अपने मन्तव्य को व्यक्त करने की चेष्टा की है। प्रतापसाहि और रसिकगोविन्द ने मम्मट आदि की परिचित शैली के अनुसरण पर प्राचीन आचार्यों के मतों का भी उल्लेख किया है। प्रतापसाहि ने 'काव्य-प्रकाश', 'साहित्य-दर्पण' और 'रस-गंगाधर' के लक्षणों का स्वच्छ हिन्दी में अनूदित करते हुए पृथक् पृथक् विस्तार के साथ उद्धृत किया है, जिससे (अध्येता को सरलता से ही) काव्यांगों का व्यापक ज्ञान हो जाता है। उन्होंने स्वयं ही कहा है

मत लहि काव्य प्रकाश को काव्य प्रदीप सँजोइ।
साहित्य दर्पण चित समुझि, रस गंगाधर सोइ॥
समुझि पर साहित्य को, जात परम प्रकास।
सुकवि प्रताप बिचारि चित, कीन्हौ काव्य विलास॥[1]

रसिकगोविन्द ने गद्य में मान्य आचार्यों के उद्धरण देते हुए प्रसंगों को स्पष्ट किया है

अन्य ज्ञान रहित जो आनन्द सो रस। प्रश्न—अन्य ज्ञान-रहित आनन्द तो निद्रा हू है। उत्तर—निद्रा जड़ है, यह चेतन। भरत आचार्य सूत्रकर्ता को मत—भाव, विभाव, संचारी भाव के जोग तें रस की सिद्धि। अथ काव्य

---

[1] काव्य-विलास—?

प्रकाश को मत—कारण कारज सहायक ह जा लाक म इन ही का नाट काव्य म विभाव सज्ञा क्हा हे। जब टीकाकर्ता का मत तथा साहित्यदप मत—सत्व विशुद्ध अखण्ड, स्वप्रकाश आनन्द, चित्, अ यज्ञान नहि ब्रह्मास्वाद सहादर रस।'[१]

श्रीपति और दास का हिन्दी भाषा का स्वच्छ ज्ञान था, अतएव उ उसकी प्रवृत्ति का ध्यान रखा ह। श्रीपति ने केशव के उदाहरण दकर का स्पष्टीकरण किया है। रसिकगाविन्द न हिन्दी क ही अनक प्रसिद्ध क के छन्द दिए है। इस प्रकार इन लागा ने अपने ग्रन्थो का समयोपयागी व का प्रयत्न अवश्य किया है आर उसम इन्हे थोडी बहुत सफलता भी मिल परन्तु वास्तव म इन बेचारा की सीमाएँ इतनी अधिक थी कि यह सप सन्तापप्रद किसी प्रकार नही कही जा सकती। साराश यह है कि उप कवि मौलिक सिद्धान्त प्रतिपादन न कर सके हा परन्तु वे रीति निरूपण उद्देश्य मानकर चले थे, इसम सन्देह नही। उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वा अध्ययन एव काव्य ममज्ञता उनम थी, परन्तु उनको व्यक्त करने का उप माध्यम नही था। और, दूसर सस्कृत क प्रभाव स मुक्त हाकर स्वतन्त्र विव का साहस भी उनमे नही था। इसीलिए उनकी गणना प्रथम श्रेणी क प्र आचार्या म तो हा ही नही सकती द्वितीय श्रेणी के व्याख्याकारा मे भी उ स्थान काफी नीचा रहेगा। परन्तु प्राचीन हिन्दी साहित्य म फिर भी आ इ ही को माना जा सकता है।

द्वितीय श्रेणी क अन्तगत उन ग्रन्था की गणना की जा सकती है जि मुख्य वर्ण्य विषय शृगार ही है। इस प्रकार क प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—केशव रसिकप्रिया मतिराम का रसराज, सुखदव मिश्र के 'रस रत्नाकर' 'रसार्णव, देव के भाव विलास रस विलास', 'भवानी विलास', 'सुज विनोद' आदि, कवीन्द्र का 'रस चन्द्रोदय दास का 'रस निर्णय, तोष सुधानिधि', बनीप्रवीन का 'नवरस-तरग, पद्माकर का जगद्विनोद इत्यादि इस पद्धति का आधार रुद्रभट्ट के शृगारतिलक' और विशेषकर भानुदत्त रसतरगिणी' तथा रसमजरी' म मिलता है। इन ग्रन्था म वसे ता सामान्य रस के साथ रस के स्थायी सचारी, विभाव, अनुभाव आदि सभी का व किया गया है परन्तु प्रधानतया शृगार के ही विभिन्न अगा को दी गई है। अ रसा का निरूपण तो केवल ग्रन्थ-पूर्ति के लिए कर दिया गया है। कहन

आवश्यकता नही कि सभी ने शृगार को समस्त रसो का राजा तो एक स्वर से माना ही है। यथा

(१) सबको केशवदास हरि, नायक है शृगार।[1]

(२) (अ) विमल सुद्ध सिगार रस, देव अकास अनन्त।
उडि उडि खग ज्यो और रस, विवस न पावत अन्त॥

(आ) रसनि सार सिगार रस, प्रेम सार सिगार।[2]

(३) स्याम बरण ब्रजराज पति, थाई है रति भाव।
ताहि कहत सिगार हैं, सकल रसन को राव॥[3]

(४) नवरस मे सिगार रस, सिरे कहत सब कोइ।[4]

केशव जैसे कुछ कवियो ने अन्य रसो का भी समाहार शृगार मे कुशलता से कर दिखाया है। 'रसिक प्रिया' मे हास्य अदभुत आदि मित्र रसो का ही नही, भयानक, बीभत्स आदि अमित्र रसो का भी उसके अन्तगत समाहार कर दिया है। इसी प्रकार देव तथा बेनीप्रवीन ने भी करुण, रौद्र, वीर और भयानक का शृगार विमिश्रित वणन किया है। वास्तव मे ये प्रयत्न कुछ सीमा तक ही सफल हुए हैं और हो सकते है। इनकी अपेक्षा मतिराम आदि ने अन्य रसो की सवथा उपेक्षा करके अधिक विवेक का परिचय दिया है। मतिराम ने अपने रसराज मे केवल शृगार का ही वणन और चित्रण किया है।

इन ग्रन्थो मे शृगार के सयोग और वियोग दोनो पक्षो का सम्यक् निरूपण मिलता है। सयोग के अन्तगत नायक नायिका (आलम्बन), सखी, दूती एव षटऋतु (उद्दीपन), और उसके अनुभाव सात्विक भाव, नायिकाओ के स्वभाव, अलकार आदि का मनोहर वणन विस्तारपूवक अत्यन्त मनोनिवेश के साथ किया गया है। वियोग पक्ष मे पूर्वानुराग, मान, प्रवास आदि विभिन्न भेद, पूर्वानुराग के श्रवण, चित्र-दशन प्रत्यक्ष दशन आदि साधन, मान मोचन के अनेक उपाय और वियोग जन्य काम-दशाएँ आदि वर्णित और अकित है। सयोग और वियोग मे इन कवियो की वृत्ति सयोग मे ही अधिक रमी है। और उसमे भी सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है नायिका भेद को, क्योकि इन कवियो की रस-वृत्ति का अन्य प्रसगो की अपेक्षा नारी के रूप भेदो से ही अधिक सीधा सम्बन्ध था।

---

[1] केशव—'रसिक प्रिया'

[2] देव—'शब्द-रसायन'

[3] बेनीप्रवीन—'नवरस-तरग'

[4] पद्माकर—'जगद्विनोद'

नायक-नायिका शृंगार के आलम्बन है अतएव उचित क्रम तो यह होना चाहिए कि पहले रस के स्वरूप, भेद, स्थायी आदि का वर्णन करने के उपरान्त विभाव के अन्तर्गत नायिका भेद का वर्णन हो। परन्तु इनमे से बहुत-से कवियो ने बिना किसी प्रकार के सकोच अथवा दम्भ के नायिका भेद से ही अपने ग्रन्थो का आरम्भ कर दिया है, और उसका कारण यह दिया है कि सब रसो मे मुख्य है शृगार रस और शृगार आलम्बित है नायक और नायिका पर, अतएव सबसे पूर्व उसी का वर्णन किया जाता है

होत नायिका-नायकहिं, आलम्बित शृगार।
तातें बरणौं नायिका, नायक मति अनुसार ॥[1]
× × ×
सुरस नायिका नायकहि, आलम्बित हैं सोइ ॥
तातें प्रथमहिं नायिका, नायक कहत बनाइ।
जुगति जथामति आपनी, सुकविन को सिर नाइ ॥[2]

देव ने तो नायिका और नायक को साक्षात माया और ब्रह्म ही कह दिया है

"माया देवी नायिका, नायक पुरुष आप"[3]

वास्तव मे रीतिकाल का सच्चा प्रतिनिधित्व ये ही कवि करते है। इनकी पद्धति तक सिद्ध न होकर सर्वथा रस सिद्ध है। रीतिकाल की 'रीति और शृगारिकता' इन दोनो मूल प्रवृत्तियो का जितना सुन्दर समन्वय इनके काव्य मे मिलता है उतना अन्यत्र असम्भव है क्योकि इनका मुख्य उद्देश्य आचार्यत्व प्रदर्शन न होकर केवल कला-साधन ही था जिसमे रसात्मकता और कलात्मकता दोनो का सयोग आप से-आप हो जाता था। इनका रीति निरूपण भी जो इतना स्वच्छ और प्रौढ है उसका कारण प्राय इनकी प्रतिभा ही थी, आचार्यत्व का विशिष्ट प्रयत्न साधन नही। स्वभाव से रस सिद्ध और सामयिक प्रवृत्ति के अनुसार शास्त्रविद् होने के कारण इनको अद्भुत रसज्ञता प्राप्त हो गई थी। शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनो का उचित सयोग ही इनकी सफलता का मूल कारण था क्योकि अन्य कवियो की व्युत्पत्ति और अभ्यास चाहे इनसे बढे चढे रहे हो, परन्तु शक्ति मे वे सभी इनसे हीनतर थे। स्वभावत इनको हिन्दी की प्रकृति का पूरा पूरा ज्ञान था। सस्कृत के ग्रन्थो का अनुवाद इन्होने

---

[1] मतिराम—'रसराज'
[2] पद्माकर—'जगद्विनोद'
[3] देवसुधा'

प्राय लक्षणा तक म नही किया, उदाहरणा की बात तो दूर रही। वैस भी इनका ध्यान लक्षण की अपेक्षा लक्ष्य पर ही अधिक था उसी के अनुसार ये अपनी सफलता आँकते थे। यह एक दूसरा कारण है जो इन ग्रन्थो क निरूपण की स्वच्छता के लिए उत्तरदायी ह।

तीसरी शैली चन्द्रालोक और 'कुवलयानन्द' क अनुकरण पर अलकार-निरूपण की सक्षिप्त शली है। इसका आरम्भ तो शायद करनेस क 'श्रुतिभूषण' आदि ग्र था से हुआ हो परन्तु वास्तविक प्रतिष्ठा इस महाराज जसवन्तसिह क 'भाषा-भूषण' स ही प्राप्त हुई। भाषा भूषण' की रचना दोहा की अत्यन्त समस्त पद्धति पर हुई है—जिनम पहल चरण म अलकार का लक्षण और दूसरे मे उदाहरण दिया गया ह। इस सक्षिप्त पद्धति क अनुसरण पर हिन्दी म अनेक उपयोगी अलकार ग्रथो का निर्माण हुआ—जिनम सूरति मिश्र-कृत 'अलकार माला, रसिक सुमति का अलकार चन्द्रोदय', भूपति का 'कण्ठाभूषण', शम्भुनाथ मिश्र का 'अलकार दीपक' ऋषिनाथ रचित 'अलकार-मणि मजरी, वैरीसाल का भाषाभरण, नाथ हरिनाथ तथा महाराज रामसिह क रचे हुए 'अलकार-दपण', पद्माकर का पद्माभरण' आदि उल्लखनीय ह। इनके अतिरिक्त तीन प्रसिद्ध अलकार ग्रन्थ 'भाषा भूषण' के तिलक रूप म लिखे गए—पहला दलपतिराय और बसीधर का, दूसरा प्रतापसाहि और तीसरा गुलाब कवि का रचा हुआ है। तीनो म सबस पूर्ण तिलक पहला ही है। शुक्लजी के शब्दो म इस टीका का भाषा भूषण' के साथ वही सम्बन्ध है जो कुवलयानन्द' का 'चन्द्रालोक' क साथ। जसा कि ऊपर सकेत किया जा चुका है इन सभी ग्रन्थो म चन्द्रालोक की अत्यन्त सक्षिप्त शली म अलकार-निरूपण किया गया है। चन्द्रालोककार का उद्देश्य स्पष्टत अलकार शास्त्र का सरल और सुपाठ्य रूप म प्रस्तुत करन का था—उन्होन किसी प्रकार क खण्डन मण्डन, वर्गीकरण, नवीन उदभावना क पचड म न पडकर, सरलता स कण्ठस्थ हो जान वाल छोट श्लोक छन्द क पूर्वार्द्ध म लक्षण और उत्तरार्द्ध म उदाहरण देत हुए अलकारो का अत्यन्त स्वच्छ निरूपण किया है। इस दृष्टि से वे वास्तव मे अलकार साहित्य के शिक्षक रूप म हमार सामन आते ह। आचार्य का गौरव—जो भामह, दण्डी, रुद्रट, रुय्यक अथवा मम्मट आदि को भी प्राप्त है, उसके अधिकारी जयदव आदि नही हो सकत, क्योंकि उनका ग्रन्थ अलकार के विज्ञान का विवेचन न करके उन्ह कवल सुपाठ्य रूप म ही उपस्थित करता है। हिन्दी म 'भाषा भूषण' और उसके, अथवा उसक मूल 'चन्द्रालोक' के अनुकरण पर जितन ग्रन्थ रचे गए, सबके विषय म भी ठीक

यही कहा जा सकता है—एक प्रकार स वे ता और भी कम गौरव के अधिकारी ह। परन्तु यहा हम कवल दृष्टिकाण की वात कर रह ह—इन सभी ग्रथा का लक्ष्य स्वीकृत रूप स अलकार निरूपण ही है, काव्य रचना नही। इसीलिए उदाहरणा का अनावश्यक महत्त्व नही दिया गया। व यदि कही सुदर वन पडे ह ता रचयिता की कवित्व शक्ति क ही कारण एसा हुआ है। उनका साध्य नही माना गया। इन ग्रथा की विवचन पद्धति क विषय म दूसरी वात यह ज्ञातव्य है कि यद्यपि इन सभी म सक्षिप्त शैली का अनुसरण किया गया हे और अधिकतर दोहा का ही प्रयाग ह, परन्तु क्रम सबका एक जैसा नही है। एक श्लाक म ही लक्षण और उदाहरण दन वाली 'चद्रालोक' की शली का निर्वाह ता 'भाषा भूषण', 'अलकार-माला', 'अलकार चद्रादय' आदि म मिलता है। यद्यपि पिछले दा ग्रथा का विषयाधार 'कुवलयानद' ही अधिक है, 'चद्रालाक' नही। इनस थाडा भिन्न वैरीसाल के 'भाषा भरण' और पद्माकर के 'पद्मा भरण' का क्रम है जिनम दाना के अतिरिक्त यत्र-तत्र कुछ और छद भी दिए है, साथ ही एक ही छद म लक्षण और उदाहरण देने की पद्धति का भी उतना नही अपनाया गया, क्याकि उपयुक्त ग्रथा की अपक्षा इनम उदाहरण विस्तार थोडा अधिक है। वस तो लक्षण आदि का आधार इहोन 'चद्रालाक' और 'कुवलयानद' का माना है, परतु उदाहरण इनके प्राय स्वतत्र ह। इस प्रकार इनमे वणन-स्वातत्र्य अपेक्षाकृत अधिक है। हरिनाथ के 'अलकार दपण' का क्रम इन सबसे विचित्र है। उहाने पहले ८६ दोहा म अलकारो के लक्षण और उनके बाद ४० छदा म उन सभी के उदाहरण दे दिए है—अतएव एक छद म उनको कइ-कई अलकारा के उदाहरणा का समावेश करना पडा है। ऋषिनाथ के 'अलकारमणि मजरी' और शम्भुनाथ कृत 'अलकार दीपक' मे कवित्त सवया का अनुपात अधिक है। इनके अतिरिक्त शम्भुनाथ मिश्र ने गद्य म भी वार्तिक लिखकर अपना आशय स्पष्ट किया है। स्वभावत ये ग्रथ उदाहरणा की दृष्टि स अधिक प्रौढ न हात हुए भी विवचन की दृष्टि स अधिक स्पष्ट हैं। इसी पद्धति का विकसित रूप हमे दलपति और वसीधर क 'अलकार रत्नाकर' म मिलता है जो अलकार निरूपण की इस सक्षिप्त शैली का सबसे अधिक उपयागी और महत्त्वपूण ग्रथ है। इस ग्रथ की रचना स्वीकृत रूप मे काव्य चातुय प्रदर्शित करन के लिए न होकर, अलकार की शिक्षा दन के उद्देश्य से ही हुई है। इन कविया का दृष्टिकोण भी वास्तव म श्रीपति, सूरति मिश्र आदि की भाँति गम्भीर और विवेचनात्मक है। इहान पहले गद्य द्वारा प्रत्यक अलकार का स्वरूप स्पष्ट किया है और फिर

उदाहरण के किस चरण म अलकार है इसका भी स्पष्ट निर्देश किया है जिसक उपरान्त किसी प्रकार का भ्रम नही रह जाता है। दूसरा गुण इस ग्रन्थ म यह है कि लखका न उदाहरण केवल अपन ही न दकर केशव, मतिराम, सनापति, गग, विहारी दव दास आदि हिन्दी के प्रसिद्ध कविया की रचनाआ म स दिए है, जिससे अलकार का वस्तु रूप हृदयगम करन क लिए विद्यार्थी का मन पहले से ही प्रस्तुत रहता है। साराश यह है कि ग्रन्थ कर्ताआ ने हिन्दी रीति काव्य के पाठका की वास्तविक कठिनाइ का बडे समुचित रूप स समाधान करत हुए अपने ग्रन्थ का अत्यन्त उपयोगी बना दिया है। इसके लगभग पतालीस वष बाद (१८३७ म) एक एसे ही व्याख्यान-प्रधान अलकार ग्रन्थ का निर्माण उत्तमचन्द भण्डारी ने 'अलकार-आशय' नाम स किया। भण्डारी कवि की अपक्षा व्याख्याता और सहृदय ही अधिक मालूम पडते है।

उपयुक्त ग्रन्था के अतिरिक्त एक दूसरा वग एस ग्रन्था का है जिनका दृष्टिकोण इनके सवथा विपरीत है। इनके अन्तगत मतिराम का ललित ललाम', भूषण के शिवराज भूषण रघुनाथ के 'रसिकमोहन' दूलह के 'कविकुल-कण्ठाभरण', दत्त क लालित्यलता, ग्वाल क रसिकान द' और प्रतापसाहि के 'अलकार चिन्तामणि आदि की गणना की जा सकती है। इनके रचयिता आचायत्व अथवा अलकार निरूपण का प्रधान लक्ष्य बनाकर नही चले। यद्यपि इनका निरूपण—विशेषकर मतिराम और रघुनाथ का—अत्यन्त स्वच्छ है, फिर भी यह मानना ही पडगा कि उन्होन लक्षणा की अपक्षा उदाहरणा को कही अधिक महत्त्व दिया है। भूषण ने तो शायद अपन अनक छन्दा को स्वतन्त्र रूप म रचकर फिर उनका रीतिबद्ध किया है। इसीलिए उनके द्वारा अलकार निरूपण प्राय स्पष्ट नही हा पाया। मतिराम और प्रतापसाहि रससिद्ध कवि थे। मतिराम न भी भूषण की ही तरह अपन लक्षणा को प्राय आश्रयदाता पर घटाने का प्रयत्न किया है। दूलह और दत्त के ग्रन्थ अपक्षाकृत सक्षिप्त है—परन्तु दूलह के उदाहरणा की प्रौढता और दत्त की चमत्कार प्रियता उन्हे रीति शिक्षक की अपक्षा कवि या कलाकार रूप म ही अधिक प्रस्तुत करती है। रघुनाथ और ग्वालकवि की स्थिति अवश्य कुछ मध्यवर्ती सी है, क्योकि इन दोना न जितना उदाहरणा की रचना पर ध्यान दिया है, उतना ही अलकारा के स्पष्टीकरण का भी सफल प्रयत्न किया है। रघुनाथ न तो अपने सवैया और कवित्त का सम्पूण कलवर ही अलकार को उदाहृत करने म प्रयुक्त किया है—जिसके कारण उनका ग्रन्थ अलकार के

महत्त्व दिया ह और शब्द की जितनी खिलवाड सम्भव थी, सभी का हौसला पूरा कर लिया है। सस्कृत म इनका प्रेरक अप्पय दीक्षित का वही 'चित्र मीमासा' ग्रन्थ कहा जा सकता है जिसकी कि पण्डितराज न अपने 'चित्र मीमासा खण्डन' म धज्जियाँ बिखेर दी हैं।

मौलिक उदभावनाएँ और आलोचना शक्ति

रीति-कालीन आचार्यों की शास्त्रीय उदभावनाओ को लेकर हिन्दी म शुरू म काफी गर्मागर्मी हुई है। इन मौलिक उदभावनाओ की प्रशसा करने वालो का शुक्लजी न बड आडे हाथो लिया है और अपनी अमोघ शली म अत्यन्त स्पष्ट रूप से यह प्रमाणित कर दिया है कि ये उदभावनाए वास्तव म या तो उद्भावनाएँ है ही नही, क्योकि सस्कृत के ग्रन्थो मे उनका वणन पहले ही कर दिया गया है, या फिर सवथा निरथक और अनगल ह। उन्होने और उनके उपरान्त उनके सकेतो के आधार पर प० कृष्णशकर शुक्ल तथा श्री विश्वनाथ प्रसाद आदि न अत्यन्त विस्तारपूवक यह प्रदर्शित किया है कि किस प्रकार अपनी तथाकथित नवीनताओ के लिए केशव दण्डी के 'काव्यादश', केशव मिश्र के 'अलकार-शेखर' एव अमर रचित काव्य-कल्प लता वृत्ति' के, दव भानुदत्त कृत 'रस मजरी' के, और दास 'काव्य प्रकाश', 'साहित्य-दपण' आदि अनक ग्रन्थो के ऋणी है। पीछे किए हुए विवचन मे स्पष्ट है कि इस युग म केवल शृगार-रस और अलकार प्रसग का ही विस्तृत वणन किया गया है। काव्य के शेष अगो का तो दो चार आचार्यों न स्पश मात्र ही किया है। नवीन उद्भावना अथवा परिवतन परिशोधन का प्रयत्न भी स्वभावत इन्ही दो क्षेत्रो म हुआ है। अतएव इनकी ही परीक्षा करना उपयुक्त होगा।

पहले शृगार रस को ही लीजिए—रीतिकाल के प्राय सभी आचार्यों और कवियो ने आग्रह के साथ इसका रसराजत्व घोषित किया है। परन्तु यह कोई नवीन कल्पना नही थी। उनसे शताब्दियो पूव 'अग्नि पुराण' 'शृगार-तिलक' और 'शृगार प्रकाश' आदि मे शृगार को एकमात्र रस अथवा रसराज स्वीकार कर लिया गया था। 'अग्नि-पुराण' मे स्पष्ट लिखा है कि "शृगारी चेत्कवि काव्य जात रसमयजगत।' उसके सम्पादक का सिद्धान्त है कि आनन्द से अहकार की उत्पत्ति होती है, अहकार स अभिमान की, अभिमान से रति की, जिसके कि शृगार, हास्य आदि भिन्न भिन्न रूप मात्र ह। इसी की प्रति ध्वनि हम भोज के 'शृगार प्रकाश म मिलती है। उनका मत है कि शृगार, वीर आदि दस रसो का वणन जो विद्वान लोग करत ह वह केवल गतानु गतिकता के कारण है। रस केवल एक ही है शृगार "हमारा अहकार ही

प्रतिकूल परिस्थितियों के अभाव में, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि के द्वारा आनन्द रूप में संवेद्य होकर रसत्व को प्राप्त हो जाता है। रति हास आदि भाव शृंगार से ही उत्पन्न होते हैं। वे स्वयं रसत्व को कभी प्राप्त नहीं होते। वे तो जिस प्रकार कि प्रकाश की किरणें अग्नि की कान्ति को बढ़ाती हैं इसी प्रकार, शृंगार की शोभा को बढ़ाते हैं। इसीलिए स्थायी, संचारी आदि का प्रपंच मिथ्या है। शृंगार ही चतुर्वर्ग का कारण है, वही रस है।' [१]

'अग्नि-पुराण', 'शृंगार प्रकाश' आदि का यह विवेचन अत्यन्त गम्भीर और मनोवैज्ञानिक है इसका आधार काम शास्त्र और मीमांसा के सूक्ष्म तर्कों से परिपुष्ट है। केशवदास ने इसकी मनोवैज्ञानिक गम्भीरता को न समझते हुए बस सभी रसों को अत्यन्त स्थूल रूप में ठेल-ठालकर शृंगार में अन्तर्भूत कर दिया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसमें उनको सफलता नहीं मिली उनके रौद्र, वीभत्स शान्त आदि संचारी की स्थिति तक भी भली प्रकार नहीं पहुँच पाए। केशव की दूसरी तथाकथित उद्भावना है शृंगार के दो सामान्य भेद प्रच्छन्न और प्रकाश जिसका अनुसरण आगे चलकर वर्ग भेद के अनन्य प्रेमी देव ने भी किया है। यह विभाजन भी अधिक मूलगत नहीं है क्योंकि अनुराग का प्रच्छन्न रहना अथवा प्रकाशित होना स्थिति-संयोग पर निर्भर है। इन दोनों अवस्थाओं में मन की अनुरागी वृत्तियों पर क्या विशेष प्रभाव पड़ता है, इसका विवेचन तो मनोविज्ञान की दृष्टि से मनोरंजक भी हो सकता है परन्तु स्थूल वर्गीकरण, जो कि केशव और देव ने किया है, न तो विशेष महत्त्व रखता है और न सर्वदा सम्भव ही है। उदाहरण के लिए, प्रौढ़ा स्वकीया का प्रच्छन्न शृंगार पूर्णतः कैसे निभ सकता है? देव ने रस का विस्तार भेद और भी अधिक किया है। उन्होंने रस के—और रस से उनका तात्पर्य रति जन्य आनन्द से ही है—दो भेद किए हैं (१) अलौकिक, (२) लौकिक। अलौकिक

---

१ शृंगारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्यबीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्न ।
आम्नासिषुर्दश रसान्सुधियो वयं तु शृंगारमेव रसनाद्रसमामनाम ॥
वीराद्भुतादिषु च येह रसप्रसिद्धि सिद्धा कुतोऽपि वटयक्षवदाविभाति ।
लोके गतानुगतिकत्ववशादुपेतामेतां निवर्तयितुमेष परिश्रमो न ॥
अप्रातिकूलिकतया मनसोमुदादेय संविदोऽनुभवहेतुरिहाभिमान ।
ज्ञेयो रस स रसनीयतयात्मशक्ते रत्यादिभूमनि पुनर्वितथा रसोक्ति ॥
—शृंगारप्रकाश (राघवन) पृष्ठ ४७०

× × ×

एकोनपचाशद्भावा वीरादयो मिथ्यारसप्रवादा शृंगार एवक चतुर्वर्गैक कारण स रस इति।
—शृंगारप्रकाश

रस तीन प्रकार का होता है—स्वाप्निक, मानोरथिक और औपनायिक। लौकिक रसों में शान्त का वर्णन करते हुए भक्ति का अन्तर्भाव भी उन्होंने उसी में कर दिया है और फिर भक्ति के तीन भेद हैं प्रेम भक्ति, शुद्ध भक्ति और शुद्ध प्रेम। इनका विवेचन देव के प्रसंग में किया जायेगा। यहाँ इतना संकेत कर देना ही पर्याप्त होगा कि यह देव की मौलिक उद्भावना नहीं है। पहला विभाजन ज्यों का त्यों 'रसतरंगिणी' से ले लिया गया है दूसरे का आधार भक्ति ग्रन्थों में मिलता है। फिर प्रेमाश्रयी भक्ति को शान्त के अन्तर्गत गिनना भी तो शास्त्र विरुद्ध एवं असंगत है। इसके अतिरिक्त रस प्रसंग में देव ने एकाध संगति बैठाने का भी प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए, उनका मत है कि "लौकिक रस नौ होते हैं नौ में तीन मुख्य हैं—शृंगार, वीर और शान्त। शेष का समाहार इन्हीं में हो जाता है। हास्य और भयानक का शृंगार में, रौद्र और करुण का वीर में और अद्भुत और वीभत्स का शान्त में। फिर इन तीनों में मुख्य है शृंगार।" यह नवीन वर्गीकरण भी अन्य वर्गीकरणों की तरह बहुत संगत या आत्यन्तिक नहीं है। लोक जीवन में तथा साहित्य में रति उत्साह और शम् ये तीन उदात्त वृत्तियाँ अवश्य हैं। परन्तु करुणा का महत्त्व भी इनसे कम नहीं है। वास्तव में साहित्य में शान्त की अपेक्षा करुण का परिपाक अधिक सरल और स्वाभाविक है। आदिकाव्य रामायण करुण रस प्रधान ही है। इसी प्रकार शान्त के साथ अद्भुत और वीभत्स का सामंजस्य तो ठीक बैठ जाता है, वीर के व्यापक रूप के साथ करुण और रौद्र भी आ जाते हैं, परन्तु शृंगार और भयानक की असंगति केवल 'भय बिनु होइ न प्रीति' के बल पर कैसे मानी जा सकती है?

भाव का वर्णन हिन्दी कवियों ने बड़ी उपेक्षा के साथ और इसीलिए बहुत-कुछ भ्रामक रूप में किया है। केशव ने वीभत्स के स्थायी जुगुप्सा के लिए निन्दा शब्द का ही प्रयोग किया—ग्लानि तक तो खैर थी परन्तु निन्दा तो सर्वथा अशक्त शब्द है। दास ने 'प्रीति' नामक भाव माना है, परन्तु उसका आधार रुद्रट का 'प्रेयान' ही है। देव ने तैंतीस संचारियों के अतिरिक्त एक और संचारी 'छल' माना है और 'वितर्क' के अवान्तर भेद कर लिए हैं (१) विप्रतिपत्ति, (२) विचार, (३) संशय, (४) अध्यवसाय। परन्तु यह भी 'रस-तरंगिणी' का ही अनुवाद है। कामदशाओं में भी विस्तार प्रिय देव ने भेदों की शृंखला जोड़ दी है और अभिलाषा स्मरण, चिन्ता उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि आदि के अनेक भेद करके रख दिए हैं। इनमें सबसे अधिक मनोरंजक हैं आठों सात्विकों के अनुसार स्मरण के भेद—स्वेद, रोमांच, अश्रु

आदि सभी का अन्तर्भाव आपने स्मरण में कर दिया है। एक दूसरे स्थान पर देव ने इन्हीं सात्त्विकों की गणना संचारियों के अन्तर्गत की है। 'भाव विलास' में संचारी भाव दो प्रकार के माने गए हैं—एक शारीर, दूसरे आन्तर। शारीर हैं स्वेद, स्तम्भ आदि सात्त्विक भाव, और आन्तर हैं निर्वेद, ग्लानि आदि प्रसिद्ध व्यभिचारी। सात्त्विकों को व्यभिचारी या संचारी के अन्तर्गत शारीर संज्ञा देकर अन्तर्भूत करना देव की मौलिक सूझ है, ऐसा भ्रम हो सकता है परन्तु जैसा कि देव ने स्वयं स्वीकार किया है भरत आदि में भी इस प्रकार का वर्णन है। भरत ने वास्तव में स्थायी के अतिरिक्त संचारी और सात्त्विकों को भाव के अन्तर्गत गिना है, व्यभिचारी के अन्तर्गत नहीं। बाद के आचार्य मम्मट, विश्वनाथ आदि ने सात्त्विकों को अनुभाव माना है। किन्तु देव का मूल आधार यहाँ भी भानुदत्त की 'रस तरंगिणी' ही है। साधारणतः इनमें कोई नवीनता नहीं नजर आती, फिर भी यह व्यवस्था मनोविज्ञान की दृष्टि से असंगत नहीं है। सात्त्विक भाव भी रस के परिपाक में शरीर में संचरण करके स्थायी को पुष्ट करते ही हैं इस दृष्टि से उनको व्यभिचारी का 'शारीर' रूप मान लेने में कोई हर्ज भी नहीं है। सात्त्विक की स्थिति मनोविज्ञान की दृष्टि से शुद्ध संवेदन अर्थात् ऐसे संवेदन की है जिसमें शारीरिक स्पन्दन अधिक-से अधिक और मानसिक कम से कम होता है। परन्तु अनुभूति का अंश उनमें है अवश्य, इसलिए अनुभाव के साथ उसका सम्बन्ध संचारी से भी मानने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। इन्हीं (भानुदत्त और देव) के अनुसरण पर रसलीन ने भी अपने रस प्रबोध में व्यभिचारी के दो भेद किए हैं तन व्यभिचारी और मन व्यभिचारी, और सात्त्विकों को तन व्यभिचारी माना है।

दास ने इसी प्रकार हावों की संख्या में वृद्धि की है—प्रचलित दस हावों में उन्होंने दस और जोड़ दिए हैं परन्तु उनमें से आठ तो, जैसा कि शुक्लजी ने निर्देश किया है साहित्य दर्पण में वर्णित नायिका के कृति साध्य अठारह अलंकारों में से अन्तिम आठ अलंकार हैं। शेष दो बोधक और हेला भी, उनके अपने नहीं हैं। उनसे पूर्व केशव ने भी विश्वनाथ के दो 'अंगज अलंकार' हाव और हेला और एक कृति साध्य अलंकार 'मद' का अपने भेदों में जोड़ दिया है। इनके अतिरिक्त उन्होंने एक और हाव माना है बोध—यह बोध ही दास का बोधक हाव है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह प्रपंच न विशेष मनोवैज्ञानिक ही है और न आत्यन्तिक ही। इस तरह तो साहित्य के भेद प्रभेदों का कितना ही आडम्बर रचा जा सकता है। वास्तव में बखेड़ा खड़ा करते समय यह कवि-आचार्य विश्वनाथ के इस स्पष्ट सिद्धान्त-वाक्य को भूल

गए कि 'एत च त्रयस्त्रिंशद व्यभिचारिभेदा इति यदुक्त तदुपलक्षणमित्याह ।' अर्थात् ये गिनाए गए भाव इत्यादि उपलक्षण मात्र हैं, इनका और भी विस्तार हो सकता है ।

अब नायिका भेद को लीजिए । हिन्दी का नायिका भेद संस्कृत की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत और व्यवस्थित है । आखिर पूरे दो सौ वर्षों तक हिन्दी के कवियों ने किया ही क्या ? परन्तु यह विस्तार और व्यवस्था उदाहरणों की दृष्टि से ही अधिक मान्य है—निरूपण की दृष्टि से नहीं । इस क्षेत्र में भी इन कवियों ने लक्षण और रीति विवेचन के लिए संस्कृत के ही ग्रन्थों का आश्रय लिया है । कुछ लोगों का विचार है कि मुग्धा मध्या और प्रौढ़ा के अवान्तर भेद हिन्दी-कवियों की कल्पना की उदभूति हैं । परन्तु बात ऐसी नहीं है । ये भेद, प्राय सभी, विश्वनाथ तथा भानुदत्त में मिल जाते हैं । केशव और देव ने मुग्धा के चार भेद माने हैं—१ नव वधू २ नव यौवना, ३ नवल-अनंगा, और ४ लज्जा प्राय रति (सलज्ज रति) । इनमें नव यौवना, नवल अनंगा और लज्जा प्राय रति क्रमश विश्वनाथ के प्रथमावतीर्ण यौवना, प्रथमावतीर्ण मदन विकारा और समधिक-लज्जावती के पर्याय हैं नव वधू मुग्धा का सामान्य रूप है । देव मुग्धात्व को वय सन्धि तक खींच ले गए हैं, और उधर रसलीन ने भेदों के भी भेद कर डाले हैं । मुग्धा का विभाजन एक दूसरी रीति से भी किया जाता है अज्ञात यौवना, ज्ञात यौवना (नवोढा विश्र ध नवोढा)—और ये भेद अधिक सगत भी हैं । हिन्दी के चिन्तामणि मतिराम, बेनी प्रवीन, पद्माकर आदि ने इन्हीं को माना है । परन्तु ये भी उनकी नवीन उदभावना नहीं हैं—इनका भी आधार संस्कृत का लोकप्रिय ग्रन्थ 'रसमंजरी' ही है । हिन्दी-कवियों ने ये समस्त भेद और इनके अवान्तर रूप ज्यों के त्यों भानुदत्त से उदधृत कर लिए हैं । इनके अतिरिक्त नवोढा विश्वनाथ के रतिवामा का ही दूसरा नाम है, और विश्रब्ध नवोढा समधिक लज्जावती का । केशव और देव ने मध्या के भी चार भेद किए हैं—(१) आरूढ़ यौवना (केशव) अथवा रुढ यौवना (देव) (२) प्रादुर्भूत-मनोभवा, (३) प्रगल्भ-वचना, (४) सुरति विचित्रा । ये भी विश्वनाथ के प्ररूढ़ यौवना, प्ररूढ़स्मरा, ईषत्प्रगल्भवचना और विचित्र-सुरता के ही नामान्तर मात्र हैं । विश्वनाथ का मध्य-व्रीडिता इन्होंने छोड दिया है । इसी प्रकार प्रौढा के भी चार अवान्तर भेद हैं—१ समस्त रस-कोविदा, २ आक्रमित-नायिका (आक्रान्त नायिका—देव), ३ लब्धापति ४ विचित्र विभ्रमा (सविभ्रमा) । यहाँ समस्त रस-कोविदा और आक्रान्त-नायिका तो विश्वनाथ के ही भेद है और

विचित्र विभ्रमा भावोनता का रूपान्तर है। नष्टापति शायद स्वतन्त्र है।[1] रसलीन ने पति-दुखिता नायिकाएँ भी कही है—जिनम से कोई बेचारी मूढमति कोई बाल पति और कोई वृद्ध पति के कारण दुखी है। इनकी मान्यता घोषित करते हुए रसलीन कहते है

इन भेदन मे जो कोऊ रसाभास विख्यात।
मुग्धा, कुलटा हू विषे सो पुनि पायौ जात ॥[1]

परकीया के विश्वनाथ आदि मान्य आचार्यों ने दो ही वर्णन किए है—ऊढा और अनूढा। हिन्दी म छह भेद और दृष्टिगत होते है—गुप्ता, विदग्धा (१ वचन, २ क्रिया), लक्षिता कुलटा, मुदिता और अनुशयना। केशव को छोडकर चिन्तामणि, मतिराम देव, पदमाकर आदि बाद के सभी कवियो ने इनका व्यवस्थित और स्पष्ट वर्णन किया है। परन्तु यह भी 'रस मजरी' के भेदो का ही शुद्ध अनुवाद है—'गुप्ता विदग्धा लक्षिता कुलटा अनुशयना मुदिता प्रभृतीना परकीयायामेवान्तर्भाव ।' दास ने इस क्षेत्र मे भी कुछ मौलिकता लाने का प्रयत्न किया है—उन्होने परकीया के उदबुद्धा और उद्बोधिता दो नवीन भेद किए है। उदबुद्धा जिसके हृदय म प्रीति स्वय उत्पन्न हो उद्बोधिता, जिसके हृदय म नायक द्वारा प्रीति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाय। उदबुद्धा प्रेम की मात्रा के अनुसार दो प्रकार की कही गई है १ अनुरागिनी २ प्रेमासक्ता। उदबोधिता के तीन भेद है—असाध्या, दुखसाध्या, और साध्या (जबकि वह पूर्णत उदबोधिता हो जाती है)। रसलीन ने इस विस्तार को और भी बढाया है—उन्होने असाध्या, दुखसाध्या और साध्या आदि के अनेक भेद किए है। ये भेद शास्त्रीय दृष्टि से विशेष स्वतन्त्र महत्व न रखते हुए भी कम से कम उस युग के सामाजिक जीवन पर अच्छा प्रकाश डालते हैं और साथ ही इन कवियो के आलोचनात्मक पर्यवेक्षण का प्रमाण भी उपस्थित करते है। परन्तु दास का महत्व भेद विस्तार के लिए इतना नही है जितना कि व्यवस्था के लिए है। उन्होने काफी स्वच्छ रीति से नायिका भेद की असगतियो को सुलझाया है। उदाहरण के लिए उन्होने गर्विता के विभिन्न भेदो को स्वतन्त्र न मानकर स्वाधीनपतिका के अन्तर्गत, धीरा आदि को खण्डिता के अन्तर्गत और अन्य सम्भोग दुखिता को उत्कण्ठिता के अन्तर्गत माना है। इसके अतिरिक्त तत्कालीन परिस्थिति के अनुकूल उन्होने स्वय से मत ग्रहण करके गणिका (रखैल) आदि को भी स्वकीया के

---

[1] 'रस प्रबोध'

अन्तगत ही गणना करत हुए रसाभास स मुक्ति पा ली है। सस्कृत म और हिन्दी म भी सामा या का साधारणत एक ही रूप माना गया है, परन्तु रसलीन की तृप्ति उससे नही हुई—और उ हाने अपने समय की 'सामा याओ' की गतिविधि का निरीक्षण करत हुए उसके भी चार भेद कर दिए—१ स्वतन्त्र, २ जननी अधीना, ३ नियमिता, और ४ प्रेम दु खिता।

अवस्था के अनुसार सस्कृत म भरत के समय से ही आठ प्रकार की नायिकाएँ कही गई है हिन्दी म प्रवत्स्यत्पतिका और आगतपतिका ये दो भेद मिलते है। इनम प्रवत्स्यत्पनिका तो भानुदत्त की रस मजरी म वर्णित प्रोत्स्यत्पतिका है जिसका उ होने प्राचीना के अनुसार स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित किया है 'प्राचीनलेखनादग्रिमक्षणे दशान्तरनिश्चितगमन प्रेयसी प्रोत्स्यत्पतिका नवमी नायिका भवितुमह ति।' उ हान स्पष्ट लिखा है कि इसका अ तर्भाव खण्डिता, कलहा तरिता विप्रलब्धा आदि म नही किया जा सकता अतएव इसका स्वतन्त्र अस्तित्व ही स्वीकार करना अनिवाय है। हमारे विचार मे ऐसी ही युक्ति आगतपतिका के लिए भी दी जा सकती है। प्रोपितपतिका और आगतपतिका के सयाग स अथात पति के गमनागमन के आश्रित दव न गतागतपतिका (गमनागौन) नायिका की भी कल्पना कर ली है। वास्तव मे, नायिका की यह मन स्थिति ह तो अत्य त मार्मिक—बिहारी ने दो-एक दोहा म इसका अत्य त सुन्दर अकन भी किया है परन्तु यहा दो आपत्तिया हा सकती हैं एक तो यह अवस्था इतनी स्थायी नही है कि इसके आधार पर एक स्वतन्त्र भेद की कल्पना की जा सके। दूसरे, यह उपयुक्त दोना अवस्थाओ—पति गमन और पति-आगमन—का सयोग ही तो है। थोडे अन्तर से एसा ही तक आगमिष्यत्पतिका के लिए भी उपस्थित किया जा सकता है उसकी स्थिति म भी एक विशेष भाव सौन्दय वतमान रहता है। पर इस विस्तार का कही अन्त भी होगा या नही ! इस प्रकार ता न जान कितने भेद हो जाएँगे।

फिर भी यह विस्तार रुका थोडे ही, भाव शास्त्र की सीमा का अति क्रमण करके अन्य शास्त्रा म भी इसने प्रवश कर ही लिया। काम शास्त्र म दिए हुए जाति-भेद का विश्वनाथ ने विस्तार तो नही किया परन्तु सकत अवश्य दे दिया है। उसी को केशव और उनक उपरान्त देव आदि न लक्षण और उदाहरणा स परिपुष्ट करके हमारे सामने रख दिया। चिन्तामणि न अशानुसार तीन भेद और दिए है—दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य, परन्तु य भी रस-मजरी स अनूदित है। दव केवल जाति और अश भेद म ही

सन्तुष्ट नहीं रहे। उन्होंने गुण-भेद, प्रकृति भेद, देश भेद न जाने कितने भेद और कर डाले हैं। परन्तु ये भेदान्तर न तो नवीन है और न महत्त्वपूर्ण। देव ने भी इनका नियोजन मात्र ही किया है, सृष्टि नहीं, क्योंकि इस प्रकार कुछ भेदों के संकेत तो साहित्य ग्रन्थों में ही मिल जाते हैं। उदाहरण के लिए, देश भेद की ओर मम्मट ने 'काव्य प्रकाश' के चतुर्थ उल्लास में संकेत किया है "तत्रापि देशकालावस्थादिभेदा" उधर प्रकृति, गुण, सत्त्व इत्यादि के लिए भी काम शास्त्र वैद्यक आदि में प्रचुर सामग्री भरी पड़ी है।

रीति-काल का दूसरा मुख्य वर्ण्य विषय है अलंकार। इस युग में नायिका-भेद के बाद सबसे अधिक ग्रन्थ अलंकारों पर मिलते हैं। इस क्षेत्र में भी सबसे पहले केशव ने ही चमत्कार दिखाया है। उन्होंने अलंकारों का, सामान्य और विशेष, दो भेदों में विभाजन किया है, जो हिन्दी-पाठक के लिए एक नवीन योजना अवश्य है परन्तु यह विभाजन वास्तव में संस्कृत के पूर्व ध्वनि-काल की विचारधारा पर आश्रित है—जबकि भामह, दण्डी, वामन आदि समस्त काव्य सौन्दर्य को ही अलंकार के अन्तर्गत मानते थे, जब अलंकार काव्य के अस्थिर धर्म नहीं थे, स्थिर शोभाकारक धर्म थे। दण्डी ने अलंकारों को काव्य को ही शोभित करने वाले धर्म कहा है, विश्वनाथ आदि की तरह शोभा की वृद्धि करने वाले अस्थिर धर्म नहीं कहा। अतएव उनकी दृष्टि में रस रीति, गुण आदि काव्य के समस्त अंग जिनसे उसके सौन्दर्य की सृष्टि होती है अलंकार के ही अन्तर्गत आ जाते हैं। इसी परम्परा के अनुसरण पर केशव ने सभी कवि प्रौढोक्ति सिद्ध बातों को अलंकार मानकर उनके सामान्य अर्थात् वर्ण्य से सम्बद्ध, और विशेष अर्थात् वर्णन-शैली से सम्बद्ध, दो भेद कर दिए हैं। जैसा कि आचार्य शुक्ल और उनके उपरान्त पण्डित कृष्णशंकर शुक्ल ने विस्तारपूर्वक दिखाया है, केशव ने अपना सभी विवेचन संस्कृत ग्रन्थों से लिया है। सामान्य अलंकारों का वर्णन संस्कृत के उत्तर काल में रचे हुए दो कवि शिक्षा ग्रन्थों से—अमर की 'काव्य-कल्पलता वृत्ति' तथा केशव मिश्र के अलंकार शेखर से अनूदित किया गया है और विशेष अलंकारों का वर्णन दण्डी के काव्यादर्श पर आश्रित है। केशव के भेद लक्षण आदि ही नहीं अनेक उदाहरण तक दण्डी से लिए गए हैं। उनके द्वारा दिए गए उपमा के विभिन्न भेदों में से कुछ तो दण्डी से ज्यों के त्यों ले लिए गए हैं, कुछ नामान्तर करके रख दिए गए हैं। विपरीतोपमा आदि एक आध भेद जो उनकी अपनी कल्पना है, उपमा ही नहीं बन पाए हैं। यही बात आक्षेप, दीपक और हेतु के भेदों के विषय में कही जा सकती है। अर्थान्तरन्यास के भेद दण्डी से भिन्न हैं, परन्तु

उनमे प्राय अलकार-तत्त्व ही नही आ पाया। कही-कही ऐसा भी हुआ है कि दण्डी का वास्तविक आशय न समझ सकने के कारण ही केशव-कृत उपभेदो मे नवीनता दिखलाई पडने लगती है। इनके अतिरिक्त उन्होने एक अलकार और माना है गणना, जिसमे एक से लेकर दस तक सख्या वाली वस्तुएँ गिनाई है। यह वास्तव मे विशेष अलकार न होकर उनके सामान्य, अर्थात वर्ण्य विषय से सम्बद्ध, अलकारो मे ही आता है। इसका भी आधार अमर और केशव मिश्र के ग्रन्थ ही है।

भूषण ने काफी गडबड करने पर भी दो नए अलकार दिए है—सामान्य विशेष और भाविक छवि। इनमे सामान्य विशेष तो (जिसमे कि विशेष के द्वारा सामान्य का बोध कराया जाता है,) निश्चय ही अप्रस्तुत प्रशसा का 'विशेष निबन्धना' रूप मात्र है। भाविक छवि भाविक का रूपान्तर है जिसमे कालगत दूरी की जगह स्थानगत दूरी को आधार माना गया है। फिर भी भाविक छवि की उदभावना मे यत्किंचित स्वातन्त्र्य मानना और उसी के अनुपात से भूषण को भी उसका श्रेय देना उचित होगा, क्योकि शुक्लजी और उनके अनुयायियो की यह युक्ति कि रीतिकाल के कवियो की उदभावना अमुक भाव अथवा अमुक अलकार का रूपान्तर है सर्वत्र बहुत सगत नही है। रूपान्तर की बात की जायगी तो सस्कृत शास्त्रो मे दिए हुए काव्यागो के अनेक भेद निरर्थक सिद्ध हो जायेंगे, अलकारो मे ही अनेक प्रधान अलकार ऐसे है जिनको रूपान्तर कहकर अन्य अलकारो मे अन्तर्भूत किया जा सकता है।

देव ने अलकार निरूपण बहुत ही चलते ढग पर किया है। उन्होने नाम और लक्षण प्राय केशव के ही अनुकरण पर दे दिए है इसीलिए दो एक नाम सस्कृत से भिन्न मालूम पडते है। उदाहरण के लिए, इनका सकीर्ण तो सकर और ससृष्टि दोनो का स्थूल रूप है और सुक्रमावलि 'क्रम' या 'यथासख्य' से भिन्न नही है। कुछ लोग नाम वभिन्न्य देखकर इनको नवीन उद्भावना ही मान बठे है। इस प्रसग मे भी जो कुछ थोडा बहुत कार्य है, वह दास ने ही किया है। उनके द्वारा प्रतिष्ठापित वीप्सा और सिंहावलोकन चाहे कोई महत्त्वपूर्ण एव सर्वथा नवीन अलकार न हो—सिंहावलोकन, जिसका उल्लेख चित्र काव्य के अन्तर्गत देव ने भी किया है, न्याय से लिया गया है, वीप्सा व्याकरण से—परन्तु वे इस बात का परिचय अवश्य देते है कि दास को भाषा की प्रकृति की पहचान थी और साथ ही उनमे स्वतन्त्र आलोचना की शक्ति अवश्य थी। वास्तव मे, कही-कही छन्द का सौन्दर्य बहुत कुछ वीप्सा आदि पर ही आश्रित रहता है उदाहरण स्वरूप देव का प्रसिद्ध पद 'रीझि रीझि, रहसि

रहसि हसि हसि उठै—पश किया जा सकता है। दास की व्यावहारिक आलोचन प्रतिभा का एक दूसरा प्रमाण यह है कि उन्होंने शब्दालकारो को गुणो के आश्रित मानकर उनका साथ साथ वर्णन किया है। जैसा कि शास्त्रीय पृष्ठभूमि से स्पष्ट है, संस्कृत से गुणो की परिभाषा और सैद्धान्तिक रूप चाहे कितना ही निभ्रान्त क्या न हो, परन्तु जहाँ उनके व्यावहारिक रूप का प्रश्न आता है, वहाँ उनका अस्तित्व वर्ण योजना से सर्वथा पृथक करना सम्भव नही हो पाता। इसलिए प्राचीन आचार्यों के निषेध की उपेक्षा करके भी जगन्नाथ ने उनको वर्णो के आश्रित भी मान लिया है। दास ने भी शायद इसी उलझन को दूर करने के लिए गुणो को रस का सहज धर्म मानते हुए भी उनको शब्दालकार से सम्बद्ध माना है। इसके अतिरिक्त एक लेखक ने उनके दो अलकारो के योग की कल्पना को भी जिसके द्वारा उन्होंने अतिशयोक्ति के कुछ नवीन भेदो की सृष्टि की है, मिश्रालकार मानकर बहुत कुछ महत्त्व दिया है। उनका कहना है कि ये मिश्रालकार सकर से भिन्न है, क्योकि सकर में केवल शब्दालकार और अर्थालकार का योग रहता है, पर मिश्रालकार में दो अर्थालकारो का ही योग होता है। परन्तु भला इस भयकर भ्रान्ति पर आश्रित उनकी प्रशसा का क्या महत्त्व हो सकता है? वास्तव में ये मिश्रालकार मम्मट द्वारा वर्णित सकर के उस रूप में आ जाते है जिसमें अर्थालकार अगागी भाव से सयुक्त रहते है—उनको स्वतन्त्र नही माना जा सकता।

अलकार-क्षेत्र में होने वाली वास्तविक अथवा तथाकथित उद्भावनाओ की सूची लगभग यही समाप्त हो जाती है। बाद में एक आध लेखक ने प्रत्यक्ष प्रमाण के अनुसार नानेन्द्रियो के पाच सर्वथा हास्यास्पद भेद कर डाले है, परन्तु अधिकाश ने पाठ्य ग्रन्थो की रचना ही अपना मूल उद्देश्य माना है। अतएव उन्होने नवीन भेद प्रभेदो के पचडे में न पडकर परिपाटी भुक्त प्रचलित अलकारो का ही निरूपण किया है। बहुत से अप्रचलित स्वतन्त्र अलकारो को भी उन्होंने काट छाट दिया है।

इस द्रौपदी के चीर को अब यही समाप्त कर दिया जाय। हमारे पास पृष्ठभूमि तयार हो गई है जिसके आधार पर उपयुक्त उद्भावनाओ की परीक्षा करते हुए अब हम रीतिकालीन आचार्यों की आलोचन प्रतिभा का मूल्य आक सकते हैं। जैसा कि ऊपर के विवरण से सिद्ध है उनके द्वारा वास्तव में जो कुछ नवीन उद्भावनाएँ हुई है वे प्राय महत्त्वहीन ही है। हिन्दी के इन समीक्षक-कवियो ने हमारे रीति विवेचन मे कोई गम्भीर मौलिक योग नही दिया। इसका कारण स्पष्ट है। संस्कृत का रीति शास्त्र अठारहवी शताब्दी

तक इतना व्यापक और पूर्ण हो चुका था कि उसका, कम से कम, विस्तार अब सम्भव नहीं था। उत्तरकालीन संस्कृत के आचार्य भी पिष्टपेषण करते हुए कवि शिक्षा के सरल ग्रन्थ ही तैयार कर पाए थे। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अब किसी प्रकार का मौलिक विवेचन ही नहीं हो सकता था। हम देख चुके हैं कि संस्कृत में कवि के व्यक्तित्व के अनुसार काव्य की प्रवृत्तियों का विश्लेषण सर्वथा उपेक्षित रहा है। उसको लिया जा सकता था, और कुछ नहीं तो कम से कम बरसाती नदी की तरह फैले हुए इस सिद्धान्त विस्तार की व्यवस्था ही हो सकती थी। इसके अतिरिक्त हिन्दी के समीक्षकों पर तो एक और गुरुतर दायित्व था हिन्दी भाषा तथा हिन्दी साहित्य की प्रकृति की परीक्षा करते हुए उसके अनुकूल रीति निरूपण करना। उदाहरण के लिए अलंकार के क्षेत्र में यह बहुत आवश्यक था कि उचित वर्गीकरण करके उनमें काट छाँट कर दी जाती और कम से कम उन अलंकारों को, जो वर्णन शैली से सम्बन्ध न रखकर अलंकार विषय से सम्बन्ध रखते हैं, हटा दिया जाता। परन्तु ये लोग वास्तविक रूप में आलोचक नहीं थे इनका रीति निरूपण भी वास्तविक आलोचन न होकर आलोचनाभास ही कहा जा सकता है। इसीलिए इन्होंने अपने दायित्व को गम्भीरतापूर्वक नहीं ग्रहण किया। संस्कृत के पतन-काल की वर्णनात्मक परिपाटी को अनुकूल पाकर उसका अनुसरण करना ही इन्हें सुगम प्रतीत हुआ। परिणामतः ये बेचारे उचित व्यवस्था भी नहीं कर पाए मौलिक उद्भावनाएँ करना तो दूर की बात थी। व्यवस्था की दृष्टि से श्रीपति, और उनसे अधिक दास का ही थोड़ा बहुत आभार माना जा सकता है—दास ने एक ओर समान अलंकारों के वर्ग बनाने का स्थूल प्रयत्न किया है और नायिका आदि के विवरण में समयानुकूल थोड़ा संशोधन किया है तो दूसरी ओर भाषा की प्रकृति के अनुसार कुछ अलंकारों की उद्भावना तथा तुक का सर्वथा मौलिक विवेचन भी किया है। इनके अतिरिक्त थोड़े बहुत गौरव के पात्र हैं वे आचार्य जिन्होंने काव्य के सर्वांग विवेचन का प्रयत्न किया है। यद्यपि इनका *मौलिक योग कोई नहीं है, क्योंकि इन्होंने प्रायः 'काव्य प्रकाश', साहित्य दर्पण'* आदि का अनुवाद ही किया है। फिर भी कम से कम इनका साहित्य ज्ञान *गम्भीर अवश्य था और हिन्दी में संस्कृत की गम्भीर विवेचन-परम्परा को* अवतरित करने के लिए हमें इनके प्रति कृतज्ञ होना चाहिए। ये आचार्य हैं कुलपति, श्रीपति, दास, सोमनाथ, प्रतापसाहि और रसिकगोविन्द। केवल शृंगार के क्षेत्र में यह श्रेय मतिराम, सुखदेव, बेनीप्रवीन और पद्माकर आदि को दिया जा सकता है—और केवल अलंकार के क्षेत्र में जसवन्तसिंह, मतिराम,

दलपतिराय, बसीधर, रघुनाथ-सदृश कविया को। इन सभी की चिन्तन पद्धति इतनी स्वच्छ और विवेक सगत थी कि इन्होने किसी प्रकार की मौलिकता व चक्कर मे न पडते हुए सरल और स्वच्छ निरूपण तक ही अपनी दृष्टि का सीमित रखा। इसीलिए तो इनक ग्रन्थ अपन विषय का ज्ञान कराने म हिन्दी पाठका के लिए इतन उपयोगी सिद्ध हो सक। मौलिक विस्तार की सबस अधिक आकाक्षा थी केशव और उनसे भी अधिक उनक अनुयायी देव का। परन्तु वास्तव मे इन दाना का पाण्डित्य विस्तृत होत हुए भा, चिन्ताधारा बहुत सुलझी हुई नही थी। केशव की भ्रान्तियाँ उनकी उलझी विचारधारा का अतक्य प्रमाण है। देव की विस्तार प्रियता की चर्चा हम ऊपर कर चुके है, परन्तु विस्तार स्वय अपने मे महत्त्वपूण नही है। उसके पीछे यदि प्रौढ तक का आधार और अनिवायता का आग्रह नही है, तो वह एक वाग्जाल मात्र रह जाता है। देव की तबीयत इतनी ज्यादा मीजान-पसन्द थी कि व अवसर विवेक और सुरुचि तक को ताक मे रख देते थे। वात, पित्त, कफ, प्रकृति और नाग खर आदि क अशा पर आश्रित नायिकाआ का वणन हमारे कथन की पुष्टि करगा। देव काव्य के सूक्ष्म मर्मा कवि थे। रस के मूल तत्त्व की थाह उन्होंने पा ली थी, इसमे सन्देह नही, इसके अतिरिक्त उनकी एक आध सगति भी ठीक बैठी है। परन्तु यह व्यक्ति कुछ अतिवादी था, इसीलिए अपनी असाधारण प्रतिभा का उचित उपयाग न कर पाया। केशव को यह गौरव भी नही दिया जा सकता उनकी ममज्ञता सीमित थी। वे काव्य की सूक्ष्म-तरल वत्तिया को नही पकड पाते थे, अतएव उनका महत्त्व वैयक्तिक से अधिक ऐतिहासिक ही माना जायगा।

साराश यह है कि इस युग म काव्य ममज्ञ अनेक हुए। प्रकाण्ड विद्वाना की भी कमी नही थी। परन्तु एक तो युग की रुचि ही गम्भीर नही रह गई थी, लाग मीमासा का नही, रसिकता का आदर करत थे—इसलिए उनकी दृष्टि सस्कृत के उत्तरकालीन अधागत साहित्य शास्त्र स ऊपर नही जा पाती थी। दूसरे सबस बडा अभाव गद्य का था जिसके कारण सूक्ष्म विश्लेषण सम्भव हा नहा था। परिणाम यह हुआ कि इनका रीति निरूपण वणनात्मक ही रह गया, विवेचनात्मक नही हो पाया।

काव्य सिद्धान्त और सम्प्रदाय

सस्कृत म काव्य के पाँच मुख्य सम्प्रदाय स्थापित हुए थ रस अलकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति इनम सवमान्य हुआ ध्वनि-सम्प्रदाय। रीति और वक्रोक्ति तो अधिक जीवित ही न रह सके, अलकार का भी तिरस्कार हुआ,

परन्तु उसका अस्तित्व अन्त तक बना रहा। बाद म यद्यपि अभिनव और मम्मट के द्वारा रस ध्वनि का एकीकरण सा ही हो गया था, परन्तु फिर भी इन दानो का थोडा-सा मौलिक अतर अवश्य मानना पडेगा। ध्वनि म बौद्धिक तत्त्व और रस मे एद्रिय तत्त्व की अपेक्षाकृत प्रधानता अनिवायत निहित है। इसी आधार पर विश्वनाथ न ध्वनि की महत्ता स्वीकृत करत हुए भी शुद्ध रस को ही काव्य की आत्मा माना। इस प्रकार हिदी के रीति-कविया के सामने तीन काव्य सम्प्रदाय थे—ध्वनि, रस और अलकार, इन तीना का ही अनुसरण उहाने किया। हम दख चुके ह कि रीतिकाल के वे आचाय जिन्हान सवाग विवेचन किया ह, प्राय मम्मट के अनुयायी थे। कुलपति, श्रीपति, दास, प्रतापसाहि आदि, जिनकी प्रवृत्ति अपक्षाकृत बौद्धिक अधिक थी स्पष्टत मम्मट की भाँति ध्वनि अथवा रस ध्वनिवादी थे। उनक काव्य की पद्धति और रीति-सिद्धान्त दाना ही इसक प्रमाण ह। कुलपति न स्पष्ट ही ध्वनि का काव्य की आत्मा माना है

व्यग्य जीव ताको कहत, शब्द अथ है देह।
गुन-गुन, भूपन भूपन, दूपन दूपन देह॥[1]

दास न यद्यपि आरम्भ म रस को कविता का अग अर्थात प्रधान अग माना है

रस कविता को अग, भूपन है भूपन सकल।
गुन सरूप औ रग, दूपन करं कुरूपता॥[2]

—परन्तु फिर भी उनके ग्रथ म इस प्रकार क स्पष्ट सकेत है कि रस से उनका तात्पय रस ध्वनि का ही है

भिन्न भिन्न यद्यपि सकल, रस भावादिक दास।
रस ब्यगि सब को कह्यो, ध्वनि को जहाँ प्रकास॥[3]

इसक अतिरिक्त मम्मट की ही तरह इहाने अलकार का भी वस्तुत महत्त्व दिया है

अलकार बिनु रसहु ह, रसौ अलकृति छडि।
सुकवि बचन रचनान सौं देत दुहुन को मडि॥[4]

---

[1] रस-रहस्य
[2] काव्य निर्णय
[3] वही
[4] वही

प्रतापसाहि तो स्वीकृत रूप म ध्वनिवादी थे ही

व्यग्य जीव है कवित मे, शब्द अथ गति अग।
सोई उत्तम काव्य है, बरन व्यग्य प्रसग॥[१]

उ होने व्यग्य पर एक स्वत त्र ग्र थ ही रचा है जिसम सारे रस प्रसग का व्यग्य वनि के द्वारा वणन किया गया है।

हि दी रीति काव्य मे ध्वनिवाद का सर्वोत्कृष्ट रूप विहारी और प्रतापसाहि मे मिलता है। बिहारी ने यद्यपि लक्षण ग्र थो की रचना नही की परन्तु उनके काव्य की प्रवृत्ति सवथा ध्वनिवाद के ही अनुकूल थी। उनके दोहा के काव्य गुण का विश्लेपण करने पर यह स देह नही रह जाता कि वे रसवाद के शुद्ध मानसिक प्राकृतिक आन द की अपेक्षा ध्वनिवाद के बौद्धिक आन द को ही अधिक महत्त्व देते थे।

उपयुक्त कवियो से स्पष्टतया भिन्न दृष्टिकोण है मतिराम, देव, रसलीन, वनीप्रवीन जैसे कवि आचार्यों और उनसे भी अधिक घना द, ठाकुर, नेवाज, बोधा आदिक रीति मुक्त कवियो का, जो असदिग्ध रूप म रसवादी थे। काव्यगत रसमग्नता के अतिरिक्त इनके रीति सकेत भी इसी प्रवृत्ति क द्योतक है। इन सभी ने रस का विशेपकर शृगार रस का ही वणन किया है, अ य अगो को प्राय छुआ तक नही है। मतिराम न 'रसराज' की रचना कवियो और रसिको के लिए ही की है, पण्डितो के लिए नही

रसिकन के रस को कियो नयो ग्र थ रसराज।

देव के विपय म तो कहना ही क्या ? वे तो रसवाद के सबसे बडे पृष्ठ पोपक थे

का व्यसार शब्दाथ को, रसु तेहि काव्य सुसार।
सो रस बरसत भाव बस, अलकार अधिकार॥
ताते काव्य सु मुख्य रस, जामे दरसत भाव।
अलकार शब्दाथ के, छ द अनेक सुभाव॥[२]

उ होन काव्य की सृष्टि और श्रवण दोनो म ही हृदयोल्लास की स्थिति का अनिवाय माना है 'कहत लहत उलहत हिया, सुनत चुनत चित प्रीति', और रसकुटिल कवल व्यग्य लीन का य का स्पष्ट शब्दो म अधम घोपित किया है। उ होने अभिधा आश्रित काव्य को इसलिए उत्तम माना है कि उसके द्वारा सहृदय काव्य रस का सीधा सवेदन कर सकता है—उसम किसी प्रकार का

---

[१] व्यग्यार्थ-कौमुदी
[२] शब्द-रसायन

व्यवधान नही रहता जो लक्षणा अथवा व्यजना के अधीन काव्य म थोडा बहुत सवथा अनिवाय होता है। और यही कारण है कि इस रस सिद्ध कवि न अलकारा म भी स्वभाव और उपमा को ही प्रधानता दी है तथा चित्र काव्य की रचना के लिए 'वायस चाम चबात' कहा है। इन कविया की काव्य पद्धति के विषय म तो अधिक कहना व्यथ है। य सभी रस सिद्ध एव शुद्ध हृदयवादी कवि ये जो प्रेम को जीवन का सार मानकर चल थ। उधर घनानन्द ठाकुर आदि म, जो रीति के बधन स सवथा मुक्त हो गए थ, यह प्रवृत्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गइ थी। उन्होन तो अपनी कविता रसिका के लिए भी नही, रसन 'नहियो के लिए लिखी थी।

तीसर सम्प्रदाय अलकारवाद का भी प्रभाव हिन्दी म उपेक्षा योग्य नही कहा जा सकता। अलकार ग्रन्था की इतनी वृहत सख्या ही उसका महत्त्व प्रतिपादन करने के लिए पयाप्त है। यह ठीक है कि इन सभी के रचयिताओ को अलकारवादी नही कहा जा सकता, क्याकि उन्होने न तो रस का तिरस्कार ही किया है और न अलकार को ही काव्य का प्रमाण माना है। परन्तु जिन्होन अपन रस प्रेम का कोई विशिष्ट परिचय न देकर केवल अलकार ग्रन्था का ही प्रणयन किया है, उनको अलकार सम्प्रदाय से बाहर नही माना जा सकता। केशव का यह सिद्धान्त वाक्य

जदपि जाति सुलच्छिनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजही, कविता, बनिता, मित्त ॥[1]

उनका दण्डी का अनुकरण और सबस अधिक उनका कान्यगत अलकार-मोह सभी यह सिद्ध करते है कि वे मूलत शृगार रसिक होत हुए भी अलकारवादी थे। राजा जसवन्तसिह और उनक अनुयायियो की प्रवृत्ति, किसी स्पष्ट सिद्धान्त वाक्य के अभाव म भी, इसी ओर सकेत करती है। बाद क कविया मे उत्तमचन्द भण्डारी और ग्वाल की रुचि अलकारा म ही रमी थी। भण्डारी ने तो केशव के सिद्धान्त वाक्य को ही प्रतिध्वनित करते हुए स्पष्ट कहा है

कविता बनिता रस भरी, सुन्दर होइ सुलाख।
बिन भूषन नहि भूषही, यहै जगत की साख ॥[2]

इनके अतिरिक्त कुछ लक्ष्य ग्रन्थकार भी स्पष्टत ही इस सम्प्रदाय के अनुयायी थे जस 'यमक शतक' के रचयिता रहमान और 'चित्र चन्द्रिका' के लेखक काशीराज इत्यादि।

---

[1] *कवि प्रिया*

[2] अलकार आशय

इस प्रकार रीति युग म ध्वनि, रस और अलकार इन तीन ही वादा का अनुसरण हुआ। रीति और वक्रोक्ति का ता किसी न नाम ही नही लिया, क्योकि वस भी व उस समय तक काव्य शास्त्र स बहिष्कृत हा चुके थे। उपयुक्त तीना वादा म भी प्रधानता रही रस-सम्प्रदाय की और रस म शृगार रस की। वास्तव म, हिन्दी म रुद्रभट्ट और भोज के अनुसरण पर 'शृगारवाद' की स्वतन्त्र रूप म ही प्रतिष्ठा हो गई थी।

शृगारिकता

शृगारिकता के कारण

रीति काव्य की दूसरी प्रधान प्रवृत्ति ह शृगारिकता। उस ता वास्तव मे रीति-काव्य क स्नायुआ म बहन वाली रक्त धारा कहना चाहिए, क्योकि इस वृहद युग की कविता का नवदशाश स भी अधिक शृगारक प्रधान है। शृगार की इस अतिशयता का तात्कालिक सामाजिक परिस्थिति और परम्परागत साहित्यिक प्रभावो के प्रकाश मे अत्यन्त सरलता से समझा भी जा सकता है। भारतीय इतिहास म यह घोर अध पतन का युग था—मुसलमाना का जीवन तो ऐहिक शक्ति और सुख के अतिचार के कारण जजर हा गया था और हिन्दू जीवन पराभव से जीण था। भक्ति युग म हिन्दुआ का केवल राजनीतिक पराभव ही सहना पडा था, आर्थिक स्थिति अधिक चिन्ताजनक नही थी। इसके अतिरिक्त उस समय क लोक नायक महात्माआ ने आध्यात्मिक विश्वासा का ऐसा मागलिक प्रकाश विकीण कर दिया था कि हिन्दुओ न सब कुछ खाकर भी जीवन का उत्साह नही खोया था। परन्तु रीति काल तक आत आते आर्थिक स्थिति भी सवथा भ्रष्ट हो गइ थी, और वह आध्यात्मिक प्रकाश भी विलुप्त हो चुका था। अब जीवन का न ता स्वस्थ बाह्य अभिव्यक्ति का ही अवसर था और न सूक्ष्म आन्तरिक (आध्यात्मिक) अभिव्यक्ति का ही। उसकी समस्त प्रवत्तिया घर की चहार दीवारी म हा सीमित रह गइ। घर म ही जो कुछ कृत्रिम अथवा अकृत्रिम उपकरण सम्भव थे उनका जुटाकर लाग जीवन का निवाह कर रह थ। निदान विलास की सरिता दाना कूला का ताडकर वह रही थी। विलास-का केन्द्र बिन्दु थी नारी जिसक चारा ओर अनेक कृत्रिम उपकरण एकत्र थ। इन सबका विस्तृत विवरण क लिए रीति काल की सामाजिक पृष्ठभूमि म उद्धृत बर्नियर का उद्धरण पयाप्त हागा। आखिर जीवन का आत्मरक्षण के लिए अभिव्यक्ति चाहिए। इस युग म यह अभिव्यक्ति कवल घर क भीतर ही सम्भव थी जहाँ उसकी समस्त आकाक्षाएँ नारी के शरीर के चारा आर ही मँडरा सकती थी। पराभव क और भी युग

भारतीय जीवन म आए, पर उन सभी मे काम की ऐसी सावभौम उपासना नही हुई। कारण यह था कि उन युगो म नैतिक आदश दृढ और कठोर थ, जो इस प्रवृत्ति के प्रतिकूल पडत थे। परन्तु रीति काल मे कृष्ण भक्ति की परम्परा से नैतिक अनुमति भी एक प्रकार मे इसे प्राप्त हो गई थी। अतएव अब किसी प्रकार के अप्राकृतिक सकोच अथवा दमन की आवश्यकता भी नही पडी। काम की उपासना जीवन के स्वीकृत सत्य के रूप मे होती थी। वातावरण के अतिरिक्त साहित्यिक परम्पराएँ और प्रभाव भी इसके अनुकूल थे। फारसी सस्कृति और साहित्य की शृगारिकता अब तक भारतीय सस्कृति म घुल मिलकर उसका एक अग बन गई थी। वह नागरिकता का एक प्रधान अलकार थी, अतएव इसका प्रभाव चेतन और अचेतन दोनो रूपा म हिन्दी कविता पर पड रहा था। तीसरे, सस्कृत और प्राकृत काव्य की जो परम्परा रीति काव्य को उत्तराधिकार म मिली वह भी एकान्त शृगारिक ही थी। ऐसे सामाजिक वातावरण और साहित्यिक प्रभावा मे पल्लवित और पुष्पित होन वाली रीति-कविता यदि अतिशय शृगारिकता से अभिभूत है, तो इसम आश्चय ही क्या!

शृगारिकता का स्वरूप

नैतिक आदर्शो की अनुमति होन के कारण रीति काल म काम वृत्ति को अभिव्यक्ति के लिए पूण स्वच्छदता थी। अतएव रीति-काव्य की शृगारिकता म अप्राकृतिक गोपन अथवा दमन से उत्पन्न ग्रथियाँ नही है। उसम स्वीकृत रूप से शरीर सुख की साधना है, जिसमे न आध्यात्मिकता का आरोप है, न वासना के उन्नयन अथवा प्रेम को अतीन्द्रिय रूप देने का उचित अनुचित प्रयत्न। जीवन की वृत्तियाँ उच्चतर सामाजिक अभिव्यक्ति से चाहे वचित रही हो, परन्तु शृगारिक कुण्ठाओ मे वे मुक्त थी। इसी कारण इस युग की शृगारिकता म घुमडन अथवा मानसिक उलझना नही है। परन्तु इस निर्बाध वासना-तुष्टि का एक दुष्परिणाम भी हुआ वह यह कि काम जीवन का अतरग साधक तत्त्व न रहकर बहिरग साध्य बन गया। इसीलिए रीति काव्य की शृगारिकता म प्रेम की एकनिष्ठता न होकर विलास की रसिकता ही प्राय मिलती है। और उसम भी सूक्ष्म आ तरिकता की अपक्षा स्थूल शारीरिकता का प्राधान्य है। प्रेम भावना प्रधान एव एकामुखी होता है विलास या रसिकता उपभोग-प्रधान एव अनेकोमुखी होती है। तभी तो प्रेम म तीव्रता होती है रसिकता मे केवल तरलता। रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि बिहारी मतिराम पद्माकर रसिक ही थे, प्रेमी नही। कहने की आवश्यकता नही कि इनकी रसिकता या सौन्दय भावना भी बहिरग ही थी, अन्तरग नही थी। इन रसिको की दृष्टि

प्राय शरीर के सौन्दय पर ही अटकी रहती थी, मन के सूक्ष्म सौन्दय तक कम ही पहुँच पाती थी, और आत्मा का सात्त्विक सौन्दय तो उसकी परिधि से बाहर था ही। अतएव इनकी सौन्दय भावना, छायावाद की सौन्दय भावना के बिलकुल विपरीत—विषयीगत न होकर प्रधानत विषयगत ही थी। परन्तु जहाँ तक रूप अर्थात विषयगत सौन्दय का सम्बन्ध था, वहाँ इन नयनो की प्यास अमिट थी। वास्तव म, इन कवियो से अधिक रूप पर रीझने की आदत और किसम हो सकती थी! एक ओर बिहारी जैसे सूक्ष्मदर्शी कवि की निगाह सौन्दय के बारीक-से बारीक सकेत को पकड सकती थी, तो दूसरी ओर मतिराम, देव घनानन्द, पद्माकर जसे रस सिद्ध कवियो की तो सम्पूण चेतना ही जसे रूप के पव म ऐन्द्रिय आनन्द का पान करके उत्सव मनाने लगती थी। नयनोत्सव का ऐसा रग विद्यापति को छोडकर प्राचीन साहित्य म अन्यत्र दुलभ ही है

मतिराम—

होत रहै मन यो मतिराम, कहूँ बन जाय बडो तप कीज।
ह्वै बनमाल हिये लगिये अरु, ह्वै मुरली अधरा रस पीज॥[१]

देव—

द्वार मै धाय धँसो निरधार ह्वै, जाय फँसो उकसौं न उधेरी।
री! अँगराय गिरी गहरी, गहि फेरि फिरी न, घिरी नहि घेरी॥
देव कछू अपनो बस ना, रस लालच लाल चित भइ चेरी।
बेगि ही बूडि गई पँखिया, अँखिया मधु की मखियाँ भईं मेरी॥[२]

घनानन्द—

झलक अति सुदर आनन गौर, छके दृग राजत काननि छ्वै।
हसि बोलनि मै छबि फूलनि की, बरषा उर ऊपर जात है ह्वै॥
लट लोल कपोल कलोल कर कलकण्ठ बनी जलजावली ह्वै।
अग अग तरग उठ दुति की, परिहै मनौ रूप अबै धर च्वै॥[३]

पद्माकर—

पर जहाँ ही जहा वह बाल, तहाँ तहाँ ताल मे होत त्रिबनी।[४]

शृगार का गाहस्थिक रूप

इस शृगारिकता के विषय म दूसरी बात यह तात्पय है कि इसका स्वरूप

---

१ रसराज
२ प्रेमचन्द्रिका
३ सुजान सागर
४ जगद्विनोद

प्राय सवत्र ही गाहस्थिक है। इसका कारण यह है कि रीति काव्य भारतीय *शृगार-परम्परा का ही स्वाभाविक विकास है। उस पर बाह्य प्रभाव बहुत कुछ* पडा जरूर, लेकिन उसके मूल तत्त्व सवदा भारतीय ही रहे। भारतीय शृगार-परम्परा का इतिहास साक्षी है कि वह पूर्वानुराग, सयोग, प्रवास, करुण, विप्रलम्भ—सभी दशाओ म अपन गाहस्थ्य तत्त्व को बनाए रहा है—यहा तक कि वन्य जीवन की स्वच्छन्दता मे भी उसकी गाहस्थिकता नष्ट नही हुई। इसी परम्परा म होने के कारण रीति कविता का शृगार दरबारी प्रभाव म रहते हुए भी अपना सहज स्वरूप बनाए रहा। उसम नागरिकता तो आई परन्तु दरबारी वश्या विलास अथवा बाजारी हुस्न परस्ती की बू नही आ पाई—यद्यपि एक एक राजा या रईस के यहाँ अनेक वेश्याएँ थी पातुरें रहती थी। केशव के आश्रयदाता इन्द्रजीत सिह के यहाँ छह वश्याएँ ता नियमित रूप से थी—अनियमित रूप स आन जान वाली ता न जाने कितनी होगी, परन्तु फिर भी उनके आश्रित कवि स्वकीया प्रेम का ही माहात्म्य-गान करते रहे। उन्हाने परकीया के नेह तक को निरुत्साहित किया—गणिका की तो बात ही क्या

पात्र मुख्य सिंगार को सुद्ध स्वकीया नारि।
× × ×
पर रस चाहे परकिया तज आपु गुन गोत।
आपु औटि खोया मिल खात दूध फल होत॥
काचौ प्रीति कुचालि की बिना नेह रस रीति।
मार रग मारू-मही बारू की सी भीति॥[1]

गणिका के प्रेम को उन्हाने स्पष्ट रूप से रसाभास माना, और अत्यन्त अरुचि के साथ उसका वणन किया। 'प्रेम हीन निय वेश्या है शृगाराभास'। इसी धम सकट म बचन के लिए बिचारे दास को घर म रखी हुई परकीयाओ—अथवा गणिकाओ का—स्वकीयात्व का फतवा देना पडा। परिणाम-स्वरूप यह शृगार विलास उच्छखल होते हुए भी गाहस्थिक वातावरण से बाहर कभी नही हुआ—कुल और शील की छाया उस पर किसी-न किसी रूप म सदैव रही। और इसीलिए तो इस अभिसारिका के एक आध रूप को छोडकर रोमानी साहसिकता का भी प्राय सवत्र ही अभाव मिलता है। परकीया की प्राप्ति भी यहाँ दूती दासी आदि की सहायता स सवथा घरलू रीति से ही

[1] देव प्रेम-चन्द्रिका।

होती है। न यहाँ किसी अर्जुन को मत्स्य भेदकर अपने शौर्य का परिचय देना पड़ता है, न किसी पृथ्वीराज को युद्ध में विजय प्राप्त करनी पड़ती है, और न किसी मजनू को सहरा की खाक छाननी पड़ती है। रोमानी प्रेम की असाधारणता—जो एक ओर बलिदान और साहसिकता पर आश्रित होती है, दूसरी ओर एक अलौकिक आदर्शवादिता पर—रीतिकाल के शृंगार में अप्राप्य है। उपभोग प्रधान होने से उसमें बलिदान की गम्भीरता और साहसिकता की शक्ति नहीं है और न उसके धरातल को उदात्त करने वाली आदर्शवादिता ही है।

नारी के प्रति दृष्टिकोण

हम कह चुके हैं कि रीति-कविता शुद्ध सामन्तीय वातावरण की सृष्टि है—स्वभावतः रीतिकालीन कवियों का नारी के प्रति दृष्टिकोण भी सर्वथा सामन्तीय है जिसके अनुसार वह समाज की एक चेतन इकाई न होकर बहुत-कुछ जीवन का एक उपकरण-मात्र है

> क्षुधा कामवश गत युग ने पशु बल से कर जन शासित,
> जीवन के उपकरण सदृश नारी भी कर ली अधिकृत।[1]

यह शृंगार, एक चेतन व्यक्ति का दूसरे चेतन व्यक्ति के प्रति सक्रिय आकर्षण, वास्तव में कम है—व्यक्ति का एक सुन्दर उपभोग्य वस्तु के प्रति निष्क्रिय आकर्षण अधिक है। यह ठीक है कि रस प्रसंगों में नारी भी कम सक्रिय नहीं दिखाई गई। एक प्रकार से वह पुरुष की अपेक्षा अधिक सक्रिय है—पुरुष को हम प्रायः उसके चरणों पर सिर रखते हुए देखते हैं, परन्तु इस सबका अर्थ फिर भी यह नहीं होता कि रीति युग की नारी का कोई स्वतन्त्र प्रेरक अस्तित्व है। उसकी समस्त सक्रियता—सभी चेष्टाएँ वास्तव में उसकी उपभोग्यता में श्री वृद्धि करने के ही निमित्त प्रदर्शित की गई हैं—उनको इसीलिए तो नायिका के अलंकार के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। नारी के व्यक्तित्व—उसके प्रेम विरह, सुख दुःख, हाव भाव, लीला विलास का एक ही उद्देश्य है उसके आकर्षण को समृद्ध करते हुए उसको अधिक-से-अधिक उपभोग्य बना देना। इसीलिए तो उसमें व्यक्ति की व्यक्ति के प्रति एकनिष्ठता नहीं है। नायिका भेद का विस्तार नारी के भोग्य रूपों का विस्तार ही तो है—रीतिकाल के पुरुष को नारी विशेष की वैयक्तिक सत्ता (Individuality) से प्रेम नहीं था—उसके नारीत्व से ही प्रेम था। देव ने निस्संकोच रूप से स्वीकृत किया है

[1] पन्त

काम अधकारी जगत, लख न रूप कुरूप।
हाथ लिए डोलत फिर, कामिनि छरी अनूप॥
ताते कामिनि एक ही, कहन सुनन को भेद।
राच पाग प्रेम रस, मेट मन के खेद॥
रची राम सँग भीलनी, जदुपति सग अहीरि।
प्रबल सदा बनवासिनी, नवल नागरिन पीरि॥
कौन गन पुर, बन, नगर, कामिनि एक रीति।
देखत हर विवेक को, चित्त हर करि प्रीति॥[1]

उपर्युक्त उद्धरण ही यह कहन का अवकाश नही देता कि रीतिकाल के कवि के मन म नारी के प्रति कितना आदर भाव था। उसके व्यक्तित्व का गौरव पुरुष के सुख भाग के साधन से अधिक और क्या था ! इसीलिए परिस्थिति बदलत ही ये लोग दूसरी ही सास म उसकी छवि को छाया ग्राहिणी अथवा विवेक को हरने वाली कहन म नही चूकते थे। नारी का सामाजिक अस्तित्व तो इनकी दृष्टि म कुछ था ही नही। गृहस्थ-जीवन के अतगत भी सुख दुःख की समभोक्ता सहचरी, माता बहन पुत्री मित्र सचिव आदि उसके अन्य महत्त्वपूण रूप हो सकते थे—परन्तु उनकी स्वीकृति भी इनम नही है। उसकी सात्विकता स्वकीया की 'कुल कानि' से, उसका आत्माभिमान खण्डिता की दीन दशा से, और उसकी बौद्धिक शक्तियाँ विदग्धा की चातुरी से आगे नही जा सकती थी।

रीति-काव्य की शृगारिकता का स्वरूप-विश्लेपण करने पर ये निष्कप निकलते है

१ उसका मूलाधार रसिकता है, प्रेम नही। यह रसिकता शुद्ध ऐन्द्रिय, अतएव उपभोग प्रधान है। उसम पार्थिव एव ऐन्द्रिय सौन्दय के आकपण की स्पष्ट स्वीकृति है—किसी प्रकार के अपार्थिव अथवा अतीन्द्रिय सौन्दय के रहस्य-सकेत नही।

२ इसीलिए वासना को उसम अपने प्राकृतिक रूप म ग्रहण करते हुए उसी की तुष्टि को निश्छल रीति से प्रेम रूप म स्वीकार किया गया है—उसको न आध्यात्मिक रूप देने का प्रयत्न किया गया है न उदात्त और परिष्कृत करन का।

३ यह शृगार उपभोग प्रधान एव गार्हस्थिक है जो एक ओर बाजारी

[1] देव— रस विलास'

दृश्य या दरबारी वेश्या विलास से भिन्न है, दूसरी ओर रोमानी प्रेम की साहसिकता अथवा आदर्शवादी बलिदान भावना भी प्राय उसमे नही मिलता।

४ इसीलिए इसम तरलता और स्टा अधिक है आत्मा की पुकार एव तीव्रता कम।

जीवन-दर्शन रूढिबद्ध एव अवैयक्तिक दृष्टिकोण

रीति युग का जीवन-दर्शन स्वस्थ नही था। जिस युग म राजनीतिक और आर्थिक पराभव अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया हो उस युग का दृष्टिकोण स्वस्थ कैसे हो सकता है? वाछित अभिव्यक्ति के अभाव म जीवन की वृत्तियो का वह सतुलन नष्ट हो गया था जो जीवन दर्शन को स्वस्थ और परिपुष्ट बनाता है। कार्यक्षेत्र की परिधि अत्यत सकुचित हो जाने से उनका उचित व्यायाम का अवकाश ही नही मिलता था। जीवन का स्वस्थ सघर्ष, जो मानव शक्तियो को विकसित और पुष्ट करता है, समाप्त ही हो चुका था। एक बँधा हुआ रुग्ण जीवन शेष था—जिसम अब सामतवाद की शक्ति और जडता छाया शेष हो चुकी थी, काम और अर्थ पर आश्रित केवल स्थूल भोग वृद्धि ही बच रही थी। इसीलिए तो रीति कवियो का दृष्टिकोण बद्ध और सकुचित है। भौतिक जीवन के आर-पार देखने वाली दृष्टि तो उन्हे प्राप्त थी ही नही—भौतिक जीवन के अतगत भी उनकी गति अत्यत सीमित और परिबद्ध थी। एक ओर तो उनम वह प्रबल अहकार नही था जो भौतिक उच्चाकाक्षाओ को जन्म देता है दूसरी ओर वह सामाजिक भावना भी नही थी जो भौतिक जीवन को व्यवस्था देती है। रीति-काव्य आध्यात्मिक तो है ही नही तथापि वस्तु रूप म भौतिक भी नही है—अर्थात उसम न आत्मा की अतुल जिज्ञासा है, न प्रकृति की दृढ कठोरता। वह तो जैसे जीवन का एक विराम स्थल है जहा सभी प्रकार की दौड धूप स श्रात होकर मानव नारी की मधुर अचल छाया म बैठकर अपने दु खो और पराभवो को भूल जाता है। उसका आधार फलक इतना सीमित है कि जीवन की अनेकरूपता के लिए उसमे स्थान ही नही है। उस पर अकित जीवन चित्र भी स्वभावत एकागी ही है परन्तु उसमे एक मधुर रमणीयता—मन को विश्राम देने का गुण—अवश्य है। घोर निराशा के उस युग म जीवन मे किसी-न किसी प्रकार ये कवि रस सचार करते रहे मैं समझता हूँ कम से कम इसके लिए तत्कालीन समाज को उनका कृतज्ञ अवश्य होना चाहिए। व्यापक जीवन के धरातल पर, बस, इससे अधिक श्रेय उनको देना असगत होगा, क्योकि यह तो मानना ही पडेगा कि यह जीवन-दर्शन बहुत कुछ हल्का पडता है। जीवन के मूलगत

गम्भीर प्रश्नो का स्पर्श भी वे नही करते—उनका गहन विवेचन और समाधान करना तो दूर रहा। काममय होते हुए भी रीति-काव्य काम को प्रवृत्ति से अधिक कुछ नहा मानता—उसके द्वारा उदबुद्ध जीवन की गहरी मनो-वैज्ञानिक और सामाजिक समस्याओ से वह अनभिज्ञ है। दृष्टिकोण के विस्तार और गाम्भीर्य का यही अभाव तो उसकी रीतिबद्धता एव अलकरणप्रियता के लिए उत्तरदायी है। जो व्यक्ति एक सकुचित दायरे म जीवन की सतह को ही छूकर रह जाएगा उसकी ग्राह्य क्रिया शक्तियाँ स्वभावत अनुकरण की ओर ही प्रेरित होगी क्योकि उनके लिए विस्तार और गहराई म तो कोई अवकाश है ही नही। यही कारण था कि इन कवियो का अलकारो स इतना अधिक मोह हो गया और वे रीति के बधनो से प्रेम करने लग गए। मुख्यत इसीलिए उनका दृष्टिकोण अवैयक्तिक और उनका काव्य अव्यक्तिगत हो गया।

जीवन की वास्तविकताओ से आमने सामने खडे होकर टक्कर लेने म व्यक्ति की सम्पूर्ण चेतना—उसकी समस्त शक्तियो—की परीक्षा होती है। तभी व्यक्तित्व का विकास होता है। वह इस युग म नही था। घोर अव्यवस्था से क्षत विक्षत सामन्तवाद के भग्नावशेष की छाया म ग्रस्त और क्षीण जीवन एक बँधी लीक पर पडा हुआ यन्त्रवत चल रहा था। क्या राज नीतिक क्षेत्र म और क्या सामाजिक क्षेत्र म, सर्वत्र ही वयक्तिक स्फूर्ति और उत्साह नि शेष हो चुका था—मौलिक सृजन-क्षमता नष्ट हो चुकी थी, केवल रीतियो की दासता मात्र रह गई थी, जो कि रीति काव्य मे स्पष्टत प्रति फलित है। कवियो के सम्मुख तो व्यक्तिगत जीवन सघर्ष का प्रश्न और भी नही था—उनका जीवन पथ तो सवथा सरल एव निश्चित बन गया था। उनकी आजीविका का साधन केवल एक ही था—राज्याश्रय उनका कतव्य कम केवल एक ही था—काव्य रचना, उनका लक्ष्य केवल एक ही था—रस प्राप्ति। ऐसे कवियो की कविता भला अवैयक्तिक एव रीतिबद्ध क्यो न होती।

रीतिकालीन धार्मिकता और भक्ति का स्वरूप

रीति युग की धार्मिकता और भक्ति भी रूढिबद्ध ही थी—वास्तव म, धम इस युग म आकर धर्माभास मात्र रह गया था। धम के उस स्वस्थ और नतिक रूप का, जो आत्मबल के द्वारा जीवन को धारण करता है, अभाव हो चुका था, परन्तु विश्वास अभी ज्यो त्यो बना ही हुआ था। ऐन्द्रिय

प्रेम म आकण्ठ मग्न होकर भी य कवि हरि राधिका का तन द्युति म अनुराग बनाए हुए थे

तजि तीरथ हरि राधिका, तन-द्युति कर अनुरागु।
जेहि व्रज-केलि निकुज मग, पग-पग होतु प्रयागु॥[1]

वास्तव म यह भक्ति भी उनकी शृगारिकता का ही एक अग थी। जीवन की अतिशय रसिकता स जब य लोग घबरा उठत होग तो राधा कृष्ण का यही अनुराग उनके धर्म-भीरु मन को आश्वासन दता होगा। इस प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक ओर सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरण भूमि क रूप म इनकी रक्षा करती थी। तभी तो ये किसी-न किसी तरह उसका आचल पकडे हुए थे। रीति-काल का कोइ भी कवि भक्ति भावना से हीन नही है—हो ही नही सकता था, क्योकि भक्ति उसके लिए एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी। भौतिक रस की उपासना करत हुए भी उनके विलास जजर मन म इतना नैतिक बल नही था कि भक्ति रस म अनास्था प्रकट करत, या उसका सद्धान्तिक निषध करत। इसीलिए रीति काल के सामाजिक जीवन और काव्य म भक्ति का आभास अनिवायत वतमान है और नायक-नायिका के लिए बार-बार 'हरि' और 'राधिका' शब्दो का प्रयोग किया गया है।

रीति-काव्य का रूप आकार

रीति काल भाषा का अलकृत काल है। भक्ति-काल म तुलसी, जायसी, सूर जैसे कवियो क सशक्त हाथो मे पडकर जो भाषा प्रौढता के चरम रूप को प्राप्त कर चुकी थी वह रीति काल तक आते आते स्वभावत अलकरण की ओर झुकने लगी। उसकी शक्तियो का पूण विकास तुलसी और सूर कर चुके थे, वह विराट, तीव्र, सूक्ष्म और तरल सभी प्रकार की अभियक्ति म पूण समथ थी। उसके लिए अब केवल दो विकास पथ थे एक व्यवस्था, दूसरा अलकरण। समय की रुचि और तदाश्रित काव्य प्रेरणा चूकि अलकरण के ही अनुकूल थी, निदान उसने अलकरण ही म विशेषता प्राप्त की। अपने काव्य क रूप-आकार को उन्होने कई प्रकार स अलकृत किया है—एक तो प्रत्यक्षत शब्द और अथ क अलकारो का प्रयोग करके, दूसरे भाषा की व्यजनात्मक शक्ति और कही कही लक्षणा का भी उपयोग करके और तीसरे माधुय गुणोचित शब्दो तथा कोमल वृत्ति का सयत्न प्रयोग करके।

अलकारो का प्रयोग—कविता और अलकार का घनिष्ठ सम्बध है।

---

[1] बिहारी-सतसई

भक्त कविया के उदगार भी उक्ति चमत्कार स हीन नही ह। परन्तु यदि उनकी आत्मा का विश्लेषण किया जाय ता व उक्तियाँ भाव की ऊष्मा से ही चमत्कृत हैं। आवेश अथवा अन्त प्रेरणा के क्षणा म वाणी अपने-आप ही उद्दीप्त हो गई है। उसका अलकृत करने का प्रयत्न नही किया गया। रूपका का जाल तुलसी और सूर म केवल वही मिलता है, जहाँ भाव क्षीण है। कहने का तात्पय यह है कि भक्त कविया म अलकृति की कमी नहो है, परतु वह प्राय अयत्नज है। रीति-काल के कविया ने सचेत होकर और प्राय यत्नपूवक अपनी वाणी को अलकृत किया है—और उनक काव्य विषयक दृष्टिकाण को देखते हुए एसा सवथा स्वाभाविक भी था। कविता उनके लिए, जैसा कि आरम्भ मे ही कहा है एक कला थी—व्यक्तित्व को अलकृत करने वाला शृगार अथवा गाष्ठी मण्डन थी। स्वभावत अलकरण उसका एक मौलिक तत्त्व था। दूसरे, शृगार और उसमे रसिकता एव वस्तुगत दृष्टि का प्राधाय होने के कारण रूप-आकार की सजावट भी अनिवाय ही थी। प्रेमाहृत कवियो के उद्‌गार ता सीधे और अपनी अभिव्यक्ति म नग्न है। उनका तो अलकरण का धेय ही नही था। परन्तु रीति-काल क अधिकाश कवि रूप रसिक नागरिक थे, अतएव व अपनी कविता के रूप को निराभरण कस दख सकत थे। इसके अतिरिक्त अलकार सम्प्रदाय भी तो उस समय अत्यत लोकप्रिय था। मतिराम और दव जसे रस सिद्ध कविया का भी उसका प्रभाव व्यक्त रूप मे स्वीकार करना पडा था।

सिद्धान्त रूप स ता इस युग म अर्थालकार की प्रभुता इतनी अधिक थी कि शब्दालकार की उपक्षा सी होने लगी परतु प्रयोग म सभी कविया ने उनका सम्मान किया है। वास्तव मे दोनो प्रकार क अलकारा का जितना प्राचुय इस काव्य म मिलता है, उतना अ यत्र नही। रीति-काव्य एक तरह से अलकारा का समृद्ध कोप है जिसम बढिया से बढिया और घटिया से घटिया नमूने मिल सकते हैं। सयत और सतुलित रुचि क कवियो म अलकारो का अत्यत कोमल और सूक्ष्म-तरल प्रयोग मिलता है—वण मैत्री तथा अथ और शब्द के स्वास्थ्य के इतने सुन्दर उदाहरण अयत्र दुलभ है। चमत्कारी कविया ने अलकारो को साधक न मानकर साध्य माना है—इनम सुरुचि और कुरुचि का अनमल मिश्रण पाया जाता है। इन्होने एक आर अनुप्रास यमक, श्लेष, प्रहेलिका तथा चित्र आदि सभी स खिलवाड किया है, दूसरी आर रूपक, अतिशयोक्ति आदि के अनोखे ठाठ बाँध है।

उपमाना और प्रतीकों का प्रयोग—यह तो मानना ही पडेगा कि जिस क्षेत्र

स रीति कवियो न अपनी अलकरण सामग्री का चयन किया ह, वह अपक्षाकृत सकुचित है। प्रकृति और भौतिक जीवन दोनो क्षेत्रो म उनकी गति सीमित थी, उन्होने कवल कामोपभोग की दृष्टि स इनका देखा है—अतएव उनके प्रतीक और उपमान प्राय विलास स सम्बद्ध ह। प्रकृति के क्षत्र म रीति के उद्दीपन—चन्द्रमा, चाँदनी, पूनम, नक्षत्र, मेघ, विद्युत, जमुना, वासन्ती, लता गुल्म, कमल, चम्पक, कुद, चकोर, हस, कोकिल, चक्रवाक, मयूर, खजन, भ्रमर आदि ही उनके उपमान और प्रतीक ह। भौतिक जीवन मे नागरिक विलास की वस्तुओ स य आग नही गये—मणि मोती, कुन्दन, दीपक, चन्दन, घनसार, अजन, आभूषण, और कामदेव के धनुष वाण आदि ही उनके प्रिय उपकरण रह ह। विहारी न जल चादर, किब्लनुमा, फानूस, शीशमहल, ताफता जस नूतन उपमानो का प्रयोग करते हुए उनकी सख्या मे वृद्धि की है, परन्तु य उपमान भी रीति भुक्त चाहे न हो, नागरिक विलास के उपकरण तो ह ही। साराश यह है कि रीतिकाल के उपमान प्राय काम विलास के उद्दीपन अथवा उपकरण ही है। और उनके प्रयोग म इस युग के कवियो न नूतन सयोजनाएँ प्राय नही की, वरन् परम्परा का ही अनुसरण अधिक किया है। सस्कृत म कालिदास का कौशल यही तो था कि वे प्रचलित उपमानो के विभिन्न सयोगो द्वारा सवत्र एक नवीन चमत्कार उत्पन्न कर देते थ। छायावाद युग म प्रसाद, पन्त और महादवी न इस कला की ही वृद्धि की है। रीतिकाल के कवियो ने नवीन प्रयोगो द्वारा नवीन रुचि और नवीन सौन्दय बोध जाग्रत नही किया, समृद्ध उपमानो के प्राचुय स जगमगाहट उत्पन्न की है। प्रतीको का प्रयोग रीति कविता म अत्यन्त विरल है। जो प्रतीक प्रयुक्त हुए है वे रूढ है और वसे व सभी स्वीकृत रूप म काम प्रतीक ह। मनोविश्लेषण के विशेषज्ञो न मुख्य प्रतीक सृजन और नाश के माने है—सृजन के प्रतीक विकासशील और प्रसन्न तथा नाश के गति रुद्ध और गुरु गभीर होते है। काम म वास्तव म सृजन और नाश दोनो का सम्मिलन हो जाता ह। सयोग-शृगार के प्रतीको म प्रसन्नता और वियोग के प्रतीको म घनता रहती है। रीति काल के प्रतीक अधिकाश म प्रसन्न और विकच है—जो सयोग के प्रभुत्व के द्योतक ह।

रीतिकाल का दूसरा प्रयोग-कौशल था कोमल शब्द चयन। इन कवियो न प्रयत्नपूवक सभी कठोर और श्रुति-कटु शब्दो का वहिष्कार किया है—अथवा कठोर शब्दो की हड्डियाँ तोडकर उन्हे अत्यन्त लचीला और उनके खुरदरेपन को खरादकर चिकना कर दिया है, भले ही एसा करन म उन्हे अपन शब्द भाण्डार का सीमित करना पडा हो। यहाँ सयुक्ताक्षरो का प्रयोग

अत्यन्त विरल है, पद प्राय असमस्त हैं, समास यदि आये भी हैं तो छोटे हैं, और उनमें वर्ण मैत्री और भाषा की प्रकृति का पूरा पूरा ध्यान रखा गया है। भाषा के प्रयोग में इन कवियों ने एक खास नाजुक-मिजाजी बरती है। इनके काव्य में किसी भी ऐसे शब्द की गुंजायश नहीं है जो माधुर्य गुण के अनुकूल न हो—अक्षरों के सगुम्फन में इन्होंने कभी त्रुटि नहीं की। सगीत के रेशमी तारों में इनके शब्द माणिक मोती की तरह गुथे हुए हैं—ऐसी रंगोज्ज्वल शब्दावली अन्यत्र दुर्लभ है। इस प्रकार अंग्रेजी की अठारहवीं शताब्दी की भाँति रीति-काल में काव्य भाषा का एक विशिष्ट रूप बन गया था जिसके दो मुख्य तत्त्व थे नागरिकता और मसृणता। ये ही दो तत्त्व इस भाषा के शब्द चयन का नियमन करते हैं—ब्रज के अतिरिक्त अवधी, बुंदेलखण्डी, सस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश, फारसी—सभी के शब्दों को लिए, यदि उनमें उपयुक्त दोनों गुण विद्यमान हैं, द्वार उन्मुक्त था। उनमें सभी प्रकार के ग्राम्य अथवा अभद्र स्पर्शों का अभाव तो है ही, बोल चाल के चलते और काम-काजी प्रयोगों को भी कभी बढ़ावा नहीं मिला—इसलिए उर्दू रसिकों की रीति भाषा से यह शिकायत रही है कि उसमें मुहावरों की कद्र नहीं की गई। इस भाषा के लिए शब्दों अथवा पदों की सबसे बड़ी विशेषता थी रस सिक्तता एवं सगीत—बस। इस प्रकार यह केवल काव्य की भाषा थी, जन-जीवन की भाषा नहीं थी—इसीलिए उसमें रचनात्मकता-मात्र थी, महाप्राणता और व्यापकता नहीं रह गई।

रीति काव्य का साहित्यिक आधार

जिस साहित्यिक दृष्टिकोण की रूपरेखा हिन्दी में चिन्तामणि के उपरान्त बँधकर निश्चित हुई—वह कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। उसका एक विशेष साहित्यिक पृष्ठाधार था। वह एक प्राचीन परम्परा का नियमित विकास थी—जिसके अन्त तत्त्व प्राकृत सस्कृत अपभ्रंश और हिन्दी के भक्ति काव्य में धीरे धीरे ज्ञात अथवा अज्ञात रूप में विकसित होते रहे थे। यह प्राचीन परम्परा थी मुक्तक कविता की, जो काव्य की अभिजात परिपाटी और उसमें निर्णीत उदात्त 'काव्य वस्तुओं' को छोड़कर नित्य प्रति के सरल ऐहिक जीवन के छोटे छोटे चित्रों को आँक रही थी। स्वदेश और विदेश के पण्डितों का अनुमान है कि जब आभीर जाति भारत में आकर बस गई—और *आर्यों की शिक्षा-सस्कृति का आभीरों के उन्मुक्त जीवन से संयोग हुआ* तो भारतीयों के मन में परलोक की चिन्ता से मुक्त नित्य प्रति के गृहस्थ जीवन के प्रति आकर्षण बढने लगा। जीवन से बढ़कर इस प्रवृत्ति का प्रभाव काव्य

पर भी पडा और वहाँ भी कवि की कल्पना आकाश अथवा आकाश चुम्बी राज महलो स उतरकर साधारण जीवन के सुख दुखो म रमन लगी। इस दृष्टि परिवतन की सबस पहली अभिव्यक्ति हम हाल की 'सत्तसई' म मिलती ह जिसकी रचना चिन्तामणि स कम-स-कम १३ शताब्दी-पूव और अधिक-स-अधिक १६ शताब्दी-पूव हुई थी। हाल की 'सत्तसई' रीति-काव्य का सबस प्रथम प्रेरक ग्रन्थ है। प्राकृत म रची हुई य गाथाएँ प्राकृत जीवन क सरल सहज घात प्रतिघातो को चित्रबद्ध करती ह। इनका वातावरण सवथा गाहस्थिक है और यौन सम्बन्धो क वणन म बहद स्पष्टता पाई जाती है। अभिव्यक्ति म सहज गुण और स्वभावोक्ति ही इनकी विशेषता है—अतिशयोक्ति को कही भी महत्त्व नही दिया गया। इसी स इन गाथाओ म एक भोली सुकुमारता है, जैसी कि मतिराम आदि म मिलती है।

जस्स जह विअ पठम तिस्सा अगम्मिणिवडिआ दिट्टी।
तस्स तहिं चेअ ठिआ सव्वग केण विण दिट्ठम।
यस्य यत्रव प्रथम तस्या अगे निपतिता दृष्टि।
तस्य तत्रव स्थिता सर्वांग केनापि न दृष्टम॥

'सत्तसई' के उपरान्त इस प्रकार के शृगार मुक्तको के दो प्रसिद्ध ग्रन्थ सस्कृत म मिलत है। एक अमरुक कवि का अमरु शतक—दूसरी गोवधन की आर्या सप्तशती'। इनकी रचना निश्चित ही 'प्राकृत सत्तसई' के आधार पर हुई है, परन्तु वातावरण म अन्तर है। सस्कृत के इन छन्दो म गाथाओ म अकित प्राकृत जीवन का वह सहज सौन्दय नही है। इनम नागरिक जीवन की कृत्रिमता आ गई है। हाल की गाथाओ और गोवधन की आर्याओ को साथ रखकर पढन से यह अन्तर स्पष्ट हो जायगा। गाथाओ का सहज गुण और उस पर आश्रित वण्य सुकुमारता इन आर्याओ म नही है—अभिव्यक्ति मे अलकरण और अतिशयोक्ति की ओर स्पष्टत ही इनका आग्रह बढ चला है। यह परम्परा सस्कृत और प्राकृत स अपभ्रश मे भी अवश्य चली होगी, परन्तु उसके प्रमाण रूप कोई विशेष स्वतन्त्र ग्रन्थ नही मिलते—केवल जयवल्लभ और हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' म स्फुट गीत छन्द मिलत है। हेमचन्द्र के ग्रन्थ मे उद्धत मुज के दोहे अपभ्रश और हिन्दी के बीच की कडी ह। इनके अतिरिक्त सस्कृत साहित्य म ऐहिक मुक्तक काव्य के कतिपय और भी ग्रन्थो की रचना हुई, जिनमे कालिदास के प्रचलित 'शृगार तिलक', 'घटकपर', भत्तहरि रचित 'शृगार शतक', बिल्हण की 'चौर पचाशिका' आदि अपने शृगार माधुय के लिए प्रसिद्ध है। परन्तु ये ग्रन्थ उपयुक्त परम्परा स थोड

भिन्न है, यद्यपि इसमे सन्देह नही कि उस परम्परा पर इनका यथेष्ट प्रभाव अवश्य पडा है। इनकी आत्मा मे जो आभिजात्य की गध है वह उन्हे 'सत्तसई', 'आर्या सप्तशती' और 'अमरु शतक' के साधारण धरातल से पृथक् कर देती है। सस्कृत साहित्य मे शृगार के इन मुक्तको के समानान्तर ही भक्तिपरक मुक्तको की भी एक परिपाटी चल पडी थी जिसके अन्तर्गत 'दुर्गा सप्तशती', 'चण्डी शतक', 'वक्रोक्तिपचाशिका' (शिव पार्वती वन्दना) और कृष्ण जीवन से सम्बद्ध 'कृष्ण लीलामृत' आदि के अनेक स्तोत्र ग्रन्थ आते हैं। इन स्तोत्रो की आत्मा मे भक्ति की प्रेरणा होते हुए भी बाह्य रूप मे प्राय शृगार की प्रधानता मिलती है। इनमे शिव पार्वती और राधा कृष्ण की शृगार लीलाओ का जो वर्णन मिलता है वह किसी भी शृगार-काव्य को लज्जित कर सकता है। बारहवी से चौदहवी शताब्दी तक बगाल और बिहार मे जो राधा कृष्ण की भक्ति के छन्द रचे गए वे काम के सूक्ष्म रहस्यो से ओत प्रोत हैं विद्यापति के गीत इन्ही का तो हिन्दी सस्करण हैं। इन ग्रन्थो के विषय मे भी ठीक वही कहा जा सकता है जो कि 'शृगार तिलक' आदि के विषय मे कहा गया है अर्थात् इनका प्रभाव उपयुक्त परिपाटी पर असदिग्ध रूप मे स्वीकार करते हुए भी इनकी आत्मा को उसकी आत्मा से भिन्न मानना पडेगा। परन्तु हिन्दी रीति काव्य मे जो 'राधा कन्हाइ सुमिरन' के बहाने का एक निरन्तर मोह तथा नायक के लिए कृष्ण और नायिका के लिए राधा शब्द का सप्रयास प्रयोग मिलता है उसके लिए इन स्तोत्रो का प्रभाव बहुत कुछ उत्तरदायी है। वास्तव मे, रीति-काव्य की आत्मा का सम्बन्ध यदि ऐहिक मुक्तको की उपयुक्त परम्परा से माने तो उसके बाह्य रूप (Form) [जिसमे कि राधाकृष्ण के प्रतीको का प्रयोग हुआ है] के विधान मे इन स्तोत्रो के कुछ स्पर्श अनिवार्यत मानने पडेगे। इस सत्य को स्वीकार करने के लिए इसलिए और भी बाध्य होना पडता है कि स्वय रीति-युग मे 'चण्डी शतक' 'चरण चन्द्रिका' आदि स्तोत्रनुमा ग्रन्थो की रचना यदा-कदा होती रही थी।

इन दोनो श्रेणी के काव्यो को प्रभावित करने वाली एक तीसरी चिन्ता-धारा थी काम शास्त्र की, जो वैसे तो बहुत पहले से ही प्रभावशाली थी, परन्तु सस्कृत-काव्य की अन्तिम शताब्दियो मे अत्यधिक लोकप्रिय हो गई थी। इस चिन्ता धारा की सबसे महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति हुई वात्स्यायन के 'काम सूत्र' मे, जो विज्ञान की अपेक्षा विचार और काव्य के अधिक निकट था। 'काम सूत्र' के उपरान्त 'रति-रहस्य', 'अनग रग' आदि अनेक ग्रन्थो का प्रणयन हुआ। यौन विज्ञान और आयुर्वेद पर इनका प्रभाव जो कुछ भी पडा हो,

परन्तु काव्य के वर्णन और मनोविज्ञान का इहान निश्चित रूप से प्रभावित किया। ऐहिक शृंगार मुक्तकों, शिव और कृष्ण भक्ति के स्तोत्रों और नायिका भेद के ग्रन्थों पर इनकी स्पष्ट छाप थी। उनमें अंकित शृंगार-भावनाओं तथा केलि क्रीडाओं के चित्रों एवं नायिकाओं के भेद प्रभेदों में स्थान स्थान पर उपयुक्त ग्रन्थों की प्रतिध्वनि सुनाई देती है।

संस्कृत की यही तीन मुख्य साहित्यिक परम्पराएँ थी जिनसे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में हिन्दी रीति काव्य ने अपने अन्ततत्त्वों का ग्रहण किया। इसके उपरान्त तो हिन्दी साहित्य का ही उदय हो गया।

हिन्दी का आदिम युग वीर गीतों और वीर-गाथाओं से मुखरित था। वीर गीतों का तो प्रश्न ही नही उठ सकता, परन्तु वीर गाथा के कवियों में कुछ कवि—विशेषकर चन्दवरदायी—काव्य रीति के प्रति निश्चय ही सावधान थे। पृथ्वीराज रासा के शृंगार चित्रों में अनेक चित्र ऐसे मिल जाते हैं जिनमें रूप के उपमानों को बहुत कुछ उसी प्रकार रीति में जकड़कर उपस्थित किया है जैसा रीति युग में हुआ है। उदाहरण के लिए, परिचित नख शिख लिया जा सकता है

(१) मनहु कल्प ससि भान कला सोलह सो बन्निय,
बाल बस ससि ता समीप अमृत रस पिन्निय।
बिगसि कमल मृग भ्रमर नन खजन मृग लुट्टिय,
हीर कीर अरु बिम्ब मोति नख सिख अहि घुट्टिय।
छत्रपति गयन्द हरि हस गति विह बनाए सच सचिय।
पदमिनिय रूप पद्मावतिय मनहु काम कामिनि रचिय॥[1]

(२) देखि बरन रति रहस। बुन्द कन स्वेद सम्भुवर।
चन्द किरन मनमथ्थ। हथ्थ कटठ जडु डुक्कर॥
सुकवि चन्द बरदाय। कहिय उप्पय श्रुति चालह।
मनो मयक मनमथ्थ। चन्द पूज्यो मुत्ताहय॥
कर किरनि रहसि रति रग दुति। प्रफुलि कली कलि सुन्दरिय।
सुक कहै सुकिय इछनि सुनवि। प पगानिय सुन्दरिय॥[2]

परन्तु इस प्रकार के रीति ग्रथित वर्णन कहाँ भी पाये जा सकते है। इसीलिए इनमें या इस प्रकार के अन्य वर्णनों में रीति तत्त्व खोजना विशेष अर्थ नही रखता। हिन्दी में वास्तव में सबसे पहले कवि विद्यापति हैं, जिनमें रीति

---

[1] चन्द, पद्मावती-समय पृ० रा०
[2] चन्द

सकेत असदिग्ध रूप मे मिलते है। रीति-काव्य की ऐद्रिय शृगारिकता का विद्यापति म अपार वैभव ही है। उसकी रीतिया का भी उनको अत्यन्त म था। विद्यापति क शृगार-चित्र सभी अलकृत है और प्राय उन सभी के पं नायिका भेद का पृष्ठाधार स्पष्ट है। ऊपर गिनाई हुइ काव्य परम्पराओ एतिहासिक मुक्तका की परम्परा स्तोत्रा के भक्ति-रस म रँगकर जो रूप धार कर सकती है बहुत-कुछ वही हम विद्यापति म मिलता है। इसीलिए विद्याप के सब चित्र ऐन्द्रिय उल्लास से दीपित होत हुए भी अधिक स्थूल नहा हो प है। उनमे एक सूक्ष्म तरलता है। दूसरे, रूप के प्रति भी उनका दृष्टिको सवथा भावगत ही है—वस्तुगत नही है। उनका धरातल नित्य प्रति के गाहस्थ जीवन तक नही उतरा इसलिए उनम वह मुखरता नही है जो रीतिकाल शृगार चित्रा म अनिवायत मिलती ह इन्ही दो कारणा से विद्यापति रीं काव्य की परम्परा स थोडा बच जाते ह। अ यथा उनम रीति-सकेता प्राचुय असन्दिग्ध है ही। उनके छ द रीति-काव्य के किसी भी सग्रह म उठाव रखे जा सकत हैं

किछु किछु उतपति अकुर भेल।
चरन चपल गति लोचन लेल॥
अब सब खन रह आँचर हात।
लाजे सखिगन न पुछए बात॥
कि कहब माधव वयस क सधि।
हेरतई मनसिज मन रहु बधि॥
तइअओ काम हृदय अनुपाम।
रोपल घट अचल कए ठाम॥
सुनइत रस कथा थापय चीत।
जइसे कुरगिनि सुनये सगीत॥
ससव जौवन उपजल बाद।
कओ न मानय जय-अवसाद॥[१]

उपयुक्त पद की प्रतिध्वनि आप न जान कितने रीति-छन्दा म सुन सकते है चन्द विद्यापति आदि के काव्य स यह सवथा स्पष्ट है कि इनको रीति शास्त्र का पूरा पूरा ज्ञान था और उस समय रीति ग्रन्था का बहुत-कुछ प्रचा हिन्दी म भी निश्चित रूप स था। कृपाराम-कृत 'हित-तरगिणी' इस अनुमा

[१] विद्यापति पदावली

का साधन करती है। स्वय उसकी ही रचना हिंदी-काव्य के अत्यन्त आरम्भिक काल, सम्वत् १५९८, म हुई

सिधि निधि शियमुख चन्द्र लखि माघ शुद्ध तृतियासु।
हित तरगिणी हों रचो कविहित परम प्रकासु॥

इनके अतिरिक्त कृपाराम न असदिग्ध शब्दा म अपन पूर्व रचे हुए रीति ग्रथा की ओर सकेत किया है

बरनत कवि सिंगार रस छन्द बडे विस्तारि।
मैं बरन्यो दोहान बिच यातें सुघरि बिचारि॥[1]

अतएव इसम कुछ भी सन्देह नही रह जाता कि हिन्दी म रीति-काव्य की परम्परा लगभग उसक जन्म से ही आरम्भ हो जाती है—पुष्य या पुण्ड का अस्तित्व चाहे रहा हो या नहीं। हित-तरगिणी' शुद्ध रीति ग्रन्थ है। वह रीति का लक्ष्य ग्रन्थ भी नही व्यक्त रूप से लक्षण ग्रन्थ है जिसम सम्पूर्ण नायिका भेद अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णित है। कृपाराम न, जसा कि उन्होन स्वय स्वीकार किया है, इस ग्रन्थ का प्रणयन अनक ग्रन्थ पढन के उपरान्त, फिर आप विचारकर, कविया और नागरिका क लिए किया है। उनका मूल आधार यद्यपि भरत ग्रन्थ है, परन्तु उन्होन सभी परवर्ती ग्रन्था का अनुशीलन किया है *और अत्यन्त स्वच्छ लक्षण-उदाहरणा के द्वारा बडी सुथरी भाषा म नायिका* भेद क सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदा का निरूपण किया है। विस्तार की दृष्टि से यह ग्रन्थ हिन्दी के अनेक परवर्ती ग्रन्था स अधिक समृद्ध है। बाद म मतिराम, बेनी प्रवीन, पद्माकर आदि न भी इतन सूक्ष्म भेद नही किए। इनक अतिरिक्त दूसरा गुण इस ग्रन्थ म यह है कि इसकी शली सवत्र वणनात्मक ही नही है, स्थान-स्थान पर विवेचनात्मक भी है। कवि ने भिन्न भिन्न भेदो का समन्वय और सगठन करने का प्रयत्न किया है।

सूर कृपाराम के समसामयिक ही थे। 'सूरसागर' म भी रीतिबद्ध शृगार चित्रो की कमी नही है। विद्यापति की भाति सयोग और वियोग के सभी पहलुओं का सूक्ष्म वणन तो सूर म है ही उनके चित्रो म अलकरण का प्राचुय है और नायिका भेद का पृष्ठाधार भी। यहा तक कि सूर न विपरीत रति को भी नही छोडा। भक्त कवि सूर की खण्डिता का एक चित्र देखिए

तहँइ जाहु जहँ रनि बसे।
अरगज अग मरगजी माला बसन सुगध भरे से हैं।
काजर अधर कपोलनि चन्दन लोचन अरुन ढरे से है॥[2]

---

[1] हित-तरगिणी

[2] सूर-सागर

और रीति कवि बिहारी के प्रसिद्ध दोहे से मिलाइए

पलक पीक, अजन अधर, लसत महावर भाल ।
आजु मिले सु भली करी, भले बने हो लाल ॥[1]

इस प्रकार सूर के अनेक चित्रा का रीति-कविया ने रस भाव हाव, नायिका और अलकार के उदाहरणा म बिना किमी कठिनाई के रूपान्तर करके रख दिया है ।

सूर का दूसरा ग्रन्थ 'साहित्य लहरी दृष्टकूट और चित्रालकारा का चक्र-व्यूह है इसलिए एक तरह से वह रीति अन्तगत अलकार परम्परा म आता है । सूर के उपरान्त तुलसी कृत 'बरवै रामायण' पर रीति का प्रभाव स्पष्ट ह । उसके अनेक बरवै प्राय अलकारो के उदाहरण से लगते है । उधर रहीम और नन्ददास ने तो नायिका भेद पर स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिखे ह । रहीम का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'बरवै नायिका भेद है', जिसम विभिन्न नायिकाओ के लक्षण न देकर अत्यन्त सरस और स्वच्छ उदाहरण ही दिए हुए है । यह ग्रन्थ निश्चय ही एक मधुर रीति ग्रन्थ है । इसमे नायिकाआ के देश-भेद भी दिए गए है । बाद मे देव ने 'रसविलास' आदि म इसी का अनुकरण किया है । इसके अतिरिक्त रहीम के अनेक फुटकर शृगार दोहा को भी बडी सरलता से रीति काव्य के अन्तगत माना जा सकता है ।

नन्ददास ने अपना ग्रन्थ 'रसमजरी' भानुदत्त की रसमजरी के आधार पर लिखा है

'रसमजरि' अनुसारि क, नद सुमति अनुसार ।
बरनत बनिता भेद जहँ, प्रेम सार विस्तार ॥

रहीम ने जहाँ केवल उदाहरण ही दिए है, वहाँ नन्ददास ने उदाहरण न देकर बस लक्षण मात्र ही दिए है । नन्ददास का नायिका निरूपण अत्यन्त स्पष्ट और विशद है—उन्हाने अपने लक्षणा को सूत्र बनाकर नही छोड दिया, वरन् भिन्न भिन्न नायिकाओ के स्वरूप का स्वच्छता और विस्तार के साथ वणन किया है । वास्तव म—जैसा कि एक हिन्दी के लेखक ने कहा है—'रसमजरी' नायिका-भेद पर एक सुन्दर पद्यबद्ध निबन्ध है ।

इस प्रकार रीति परिपाटी गिरती-पडती किसी-न किसी रूप म आरम्भ म ही चल रही थी, परन्तु अभी हिन्दी म कोई ऐसा आचाय न हुआ था जिसके व्यक्तित्व से उसको बल प्राप्त होता । कृपाराम की 'हितनरगिणी' यद्यपि एक

[1] बिहारी-सतसई

शुद्ध रीति ग्रन्थ थी—परन्तु एक तो उसका क्षेत्र केवल नायिका भेद तक ही सीमित था, दूसरे कृपाराम के अस्तित्व म इतनी शक्ति नही थी कि रीति परम्परा को काव्य की अन्य प्रचलित परम्पराओ के समक्ष प्रतिष्ठित कर सकते। यह काय केशवदास न किया। केशवदास हिन्दी के पहले आचाय हैं, जिन्होने काव्य रीति के प्रति सचेत होकर उसके विभिन्न अगो का गम्भीर और पाण्डित्यपूण विवेचन किया है। यह तो ठीक ह कि उनका सिद्धान्त-वाक्य रूप यह दोहा

जदपि सुजाति सुलच्छिनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त॥

—और व्यावहारिक रूप मे भी अलकार के प्रति उनका अनुचित मोह, दोनो ही उन्ह दण्डी आदि अलकारवादियो की कोटि म रखते हैं—परन्तु उनकी 'रसिक प्रिया' रस और नायिका भेद का प्रौढ ग्रन्थ है। यदि हम केशव की 'रसिक प्रिया' को ही लें, 'कवि प्रिया' को न देखें तो—उन्ह रसवादी कहने म कोई आपत्ति नही की जा सकती। उन्होने भी उसी आग्रह से शृगार को रसराज माना है और उसी तन्मयता के साथ नायिका के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदो का वणन किया है। कहने का तात्पय है कि केशव ने वास्तव म पूव ध्वनि तथा उत्तर ध्वनि दोनो कालो की विचारधाराओ को हिन्दी मे अवतरित किया। 'कविप्रिया' म अलकाय और अलकार मे अभेद करने वाली पूवध्वनि काल की विचारधारा की अभिव्यक्ति है और शृगार का एकमात्र रस स्वीकृत करने वाली 'रसिक प्रिया' पर उत्तर ध्वनि काल की सिद्धान्त परम्परा का गहरा प्रभाव है। अतएव केशवदास हिन्दी रीति परम्परा के सबसे पहले माग स्तम्भ है। केशव के उपरान्त दूसरा महत्त्व पूण नाम प्रसिद्ध कवि सेनापति का है जिन्होने 'काव्यकल्पद्रुम' मे काव्य के अग उपागो का विवेचन किया है। 'काव्य कल्पद्रुम' आज अप्राप्य है—परन्तु उनके नाम और एकाध स्थान पर उसके प्रति किए हुए सकेतो से अनुमान किया जाता है कि वह 'काव्य प्रकाश' की शैली पर काव्य की सम्पूण रीतियो पर प्रकाश डालने वाला ग्रन्थ होगा। फिर तो चिन्तामणि और उनके बन्धु द्वय का ही युग आ जाता है। और रीति ग्रन्थो की क्षीण रेखा धारा जो हिन्दी के जन्म काल से दबती छिपती चली आ रही थी, शत शत मुखी होकर प्रवाहित होने लगती है।

उपयुक्त विवेचन के उपरान्त साधारणत यही परिणाम निकाला जा सकता है कि हिन्दी म रीति परम्परा का आरम्भ तो उसके जन्म-काल से ही मानना पडेगा—पुष्य या पुण्ड्र कवि विशेष का अस्तित्व चाहे मानें या नही। जन

समाज मे जहा समय प्रभाव के अनुकूल वीर भाव अथवा निर्गुण-सगुण भक्ति की भावनाएँ काव्य रूप म अभिव्यक्त हो रही थी, वहाँ साहित्यविद् पण्डिता की गोष्ठियो म आरम्भ स ही रीति परम्परा का किसी-न किसी रूप मे पोषण हो रहा था। (वीर गाथा और भक्ति काल के शास्त्रनिष्ठ कवियो की कविता मुक्तात्मा होकर भी रीति के रेशमी बन्धना का मोह नही छोड पाती थी—चन्द, नरपति नाल्ह सूर, तुलसी नन्ददास सभी की रीति के प्रति जागरूकता इसका असदिग्ध प्रमाण है)। कुछ इतिहासकारो का यह तक कि हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भ म ही रीति ग्रन्थो का किस प्रकार निर्माण हो सकता है—लक्षण-ग्रन्थ तो लक्ष्य ग्रन्थो की समृद्धि के उपरान्त ही सम्भव है—अत्यन्त स्थूल है, क्योकि हिन्दी साहित्य स्वतन्त्र रूप से फूटा हुआ कोई सवथा नवीन स्रोत नही है। वह सस्कृत और प्राकृत-अपभ्रंश की प्रवाहमान काव्य धारा का [illegible] रूपान्तर मात्र है। सस्कृत-काव्य का पयवसान रीति ग्रन्थो म हो [illegible]—अतएव हिन्दी के आरम्भ मे रीति ग्रन्थो की रचना सवथा [illegible] सहज थी। हिन्दी की इस रीति परम्परा का पहला निश्चित [illegible] तरगिणी'—परन्तु फिर भी उसकी वास्तविक गौरव प्रतिष्ठा हुई [illegible] और 'रसिक प्रिया' की रचनाओ के साथ। केशव के [illegible] म भी चूकि जन रुचि अनुकूल नही थी—केशव का [illegible] और सूर के सव व्यापी प्रभाव से आक्रान्त था—[illegible] आ पाया। चिन्तामणि के समय तक [illegible], और बस तभी से यह धारा शत सहस्रमुखी [illegible]। [illegible] चिन्तामणि का महत्त्व केवल आकस्मिक और [illegible] मात्र ही तो था कि उनके समय म जनरुचि [illegible] का ताता बँध गया। युग प्रवतन [illegible]—परवर्ती रीति कवियो म स किसी न [illegible] यह गौरव उन्होने केशव को [illegible] अधिकारी भी है क्योकि [illegible] को हिन्दी म अवतरित किया [illegible] महत्व दिया।

सहायक ग्रन्थो की सूची

१ रीति-काव्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

Tarachand *A Short History of the Indian People*

——हिन्दुस्तान के निवासियों का संक्षिप्त इतिहास

Rawlinson, *India—A Short Cultural History*

Edwards and Garre, *Moghul Rule in India*

Tarachand, *Influence of Islam on Indian Culture*

Ishwari Prasad, *A Short History of Muslim Rule in India*

Moreland, *From Akbar to Aurangzeb*

Banarsi Prasad Saxena, *History of Shah Jahan of Delhi*

Jadunath Sarkar, *History of Aurangzeb*

——*Fall of the Moghul Empire*, Vols I and II

——*Studies in Moghul India*

Irwine *Later Moghuls*, Vols I and II

Khosla *Moghul Kingship and Nobility*

Tod, *Annals and Antiquities of Rajasthan*

ART

Havell, *Indian Sculpture and Painting*

V Smith, *History of Fine Arts in India*

Percy Brown *Indian Painting*

राय कृष्णदास भारत की चित्रकला

२ शास्त्रीय आधार

भरतमुनि नाट्यशास्त्र

दण्डी काव्यादर्श

वामन काव्यालंकारसूत्रवृत्ति

आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त ध्वन्यालोक (लोचन-सहित)

कुन्तक वक्रोक्तिजीवितम्

भोज शृंगारप्रकाश

धनञ्जय दशरूपक

राजशेखर काव्यमीमासा
मम्मट काव्यप्रकाश
विश्वनाथ साहित्यदपण
जयदेव चन्द्रालोक
भानुदत्त रसतरगिणी
——रसमजरी
जगन्नाथ रसगगाधर
रूपगास्वामी उज्ज्वलनीलमणि
हरिऔध रस कलश
रामचन्द्र शुक्ल चिन्तामणि
श्यामसुन्दरदास साहित्यालोचन
केशवप्रसाद मिश्र मेघदूत की भूमिका
गुलावराय नवरस
कन्हैयालाल पोद्दार रस मजरी, अलकार-मजरी
अर्जुनदास केडिया भारती भूषण
S K De *Sanskrit Poetics*
Kane, *Introduction to Sahitya Darpana*
Sankaran, *Some Aspects of Literary Criticism in Sanskrit*
Lahiri, *The Concepts of Riti and Guna in Sanskrit Poetics*
Bhagwandas, *The Science of Emotions*
Croce, *Aesthetic*
Richards, *Principles of Literary Criticism*
——*Practical Criticism*
Mellone and Drummond *Elements of Psychology*
Stout, *Manual of Psychology*
James *Principles of Psychology*
McDougall, *Outline of Psychology*
——*Energies of Man*
Dewey, *Psychology*
Freud, *Introductory Lectures on Psychoanalysis*
——*Interpretation of Dreams*
——*Leonardo da Vinci*

Jung *Psychological Types*
——*Modern Man in Search of a Soul*
Bosanquet, *History of Aesthetic*
Bain, *English Composition and Rhetoric*
Pater, *Appreciations*
Read, *English Prose Style*
Murry, *The Problem of Style*

३ रीति-काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ

मिश्रबंधु मिश्रबंधु विनोद, नवरत्न
रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास
श्यामसुन्दरदास भाषा और साहित्य
डॉ० रसाल हिन्दी साहित्य का इतिहास
विश्वनाथप्रसाद मिश्र वाङ्मय विमर्श, पद्माकर-पंचामृत, बिहारी की वाग्विभूति
केशव रसिक प्रिया, कवि प्रिया
चिन्तामणि कविकुल-कल्पतरु
जसवन्तसिंह भाषा भूषण
मतिराम रसराज, ललित-ललाम
भूषण शिवराजभूषण
कुलपति रस रहस्य
दास काव्य निर्णय, शृंगार निर्णय
दूलह कविकुलकंठाभरण
बेनीप्रवीन नवरसतरंग
पद्माकर जगदविनोद, पद्माभरण
प्रतापसाहि काव्य विलास (ह० लि०)
——व्यंग्यार्थकौमुदी
रसिकगोविन्द रसिकगोविन्दानन्दघन (ह० लि०)
उत्तमचन्द भण्डारी अलंकार-आशय (ह० लि०)

राजशेखर काव्यमीमासा
मम्मट काव्यप्रकाश
विश्वनाथ साहित्यदपण
जयदेव चन्द्रालोक
भानुदत्त रसतरगिणी
——रसमजरी
जगनाथ रसगगाधर
रूपगोस्वामी उज्ज्वलनीलमणि
हरिऔध रस कलश
रामचन्द्र शुक्ल चिन्तामणि
श्यामसुन्दरदास साहित्यालोचन
केशवप्रसाद मिश्र मेघदूत की भूमिका
गुलाबराय नवरस
कन्हैयालाल पोद्दार रस मजरी, अलकार-मजरी
अजुनदास केडिया भारती भूषण
S K De, *Sanskrit Poetics*
Kane, *Introduction to Sahitya Darpana*
Sankaran, *Some Aspects of Literary Criticism in Sanskrit*
Lahiri, *The Concepts of Riti and Guna in Sanskrit Poetics*
Bhagwandas, *The Science of Emotions*
Croce *Aesthetic*
Richards, *Principles of Literary Criticism*
——*Practical Criticism*
Mellone and Drummond, *Elements of Psychology*
Stout, *Manual of Psychology*
James *Principles of Psychology*
McDougall, *Outline of Psychology*
——*Energies of Man*
Dewey, *Psychology*
Freud, *Introductory Lectures on Psychoanalysis*
——*Interpretation of Dreams*
——*Leonardo da Vinci*

Jung, *Psychological Types*
—— *Modern Man in Search of a Soul*
Bosanquet, *History of Aesthetic*
Bain, *English Composition and Rhetoric*
Pater, *Appreciations*
Read, *English Prose Style*
Murry, *The Problem of Style*

३ रीति-काव्य की मुख्य प्रवृत्तिया

मिश्रबन्धु मिश्रबन्धु विनोद, नवरत्न
रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास
श्यामसुन्दरदास भाषा और साहित्य
डॉ० रसाल हिन्दी साहित्य का इतिहास
विश्वनाथप्रसाद मिश्र वाङ्मय विमर्श, पद्माकर-पचामृत, बिहारी की वाग्विभूति
केशव रसिक प्रिया, कवि प्रिया
चिन्तामणि कविकुल-कल्पतरु
जसवन्तसिंह भाषा भूषण
मतिराम रसराज, ललित-ललाम
भूषण शिवराजभूषण
कुलपति रस रहस्य
दास काव्य निर्णय, शृगार निर्णय
दूलह कविकुलकठाभरण
बेनीप्रवीन नवरसतरग
पद्माकर जगदविनोद, पद्माभरण
प्रतापसाहि काव्य विलास (ह० लि०)
——व्यग्यार्थकौमुदी
रसिकगोविन्द रसिकगोविन्दानन्दघन (ह० लि०)
उत्तमचन्द भण्डारी अलकार-आशय (ह० लि०)